“SHAMSHER KI KAVITA ME AVBODH AUR VICHARDHARATMAK PRATIBADDHATA KA PRASHN”

(CHAYANIT KAVITAON KE SANDARBH ME)

(Dissertation submitted to the University Of Hyderabad in partial fulfillment of Degree)

MASTER OF PHILOSOPHY

IN

HINDI

2019

PARAG PAWAN

(17HHHL10)

Department of Hindi

School of Humanities

University of Hyderabad

Hyderabad - 500046

Telangana (INDIA)

“शमशेर की कविता में अवबोध और विचारधारात्मक प्रतिबद्धता का प्रश्न”

(चयनित कविताओं के सन्दर्भ में)

हैदराबाद विश्वविद्यालय में एम.फिल. (हिंदी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

2019

शोधार्थी

पराग पावन

(17HHHL10)

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद – 500046

तेलंगाना, भारत

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation entitled **“SHAMSHER KI KAVITA ME AVBODH AUR VICHARDHARATMAK PRATIBADDHATA KA PRASHN” (CHAYANIT KAVITAON KE SANDARBH ME)**, शमशेर की कविता में अवबोध और विचारधारात्मक प्रतिबद्धता का प्रश्न” (चयनित कविताओं के सन्दर्भ में) submitted by **PARAG PAWAN** bearing Reg. No. 17HHHL10 in partial fulfillment of the requirements for the award of Master of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free dissertation.

The dissertation has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

Head of the Department

Dean of the School

DECLARATION

I hereby declare that this Dissertation entitled **"SHAMSHER KI KAVITA ME AVBODH AUR VICHARDHARATMAK PRATIBADDHATA KA PRASHN" (CHAYANIT KAVITAON KE SANDARBH ME)**, **"शमशेर की कविता में अवबोध और विचारधारात्मक प्रतिबद्धता का प्रश्न" (चयनित कविताओं के सन्दर्भ में)** submitted by me under the guidance and supervision of **Dr. M. ANJANEYULU** is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for award of any degree or diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited on shodhganga/ **INFLIBNET**. I also declare that my dissertation is plagiarism free.

Date :

Place :

PARAG PAWAN
Reg. No.17HHHL10
University of Hyderabad

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
भूमिका	i - iv
प्रथम अध्याय	1 - 34
अवबोध और विचारधारा : परिभाषा, स्वरुप और हिंदी कविता में उपस्थिति	
द्वितीय अध्याय	35 - 69
शमशेर बहादुर सिंह : रचना-प्रक्रिया, रचना-मूल्य, प्रतिनिधि स्वर और विचारधारात्मक प्रतिबद्धता	
तृतीय अध्याय	70 - 97
शमशेर की कविता में अवबोध और विचारधारा : सामाजीकरण, तनाव और अंतःक्रिया	
निष्कर्ष	98 -101
सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	102-109
संगोष्ठी प्रमाण-पत्र	110

भूमिका

पिकासो ने एक बार कहा था- कला एक झूठ है, जो सत्य जानने में हमारी मदद करती है। समय अनंत है और उसकी अनंतता से भले ही हम भयाक्रांत या हताश हों पर हमारे पक्ष में जो बात है, वह यही कि उसकी अनंतता का हमें बोध है । जिन्हें हम सदी कहते हैं वे शायद समय के निःश्वास हैं। जिन्हें हम युग कहते हैं वे शायद समय की हिचकी हैं। जो भी हो... समय की प्रत्येक इकाई एक साथ अँधेरे और उजाले का आरामगाह है । समय की प्रत्येक इकाई में कुछ लोग सत्य को ढूँढ़ते हुए जियेंगे-मरेंगे और सत्य की शिनाख़्त करने वाले लोग यह बात कभी नहीं भूलेंगे कि कला एक झूठ है, जो सत्य जानने में हमारी सहायता करती है।

कविताएँ तब भी थीं जब मनुष्य को उनकी जरूरत नहीं थी और इस वाक्य को कल के भविष्य-रूप में भी कहा जायेगा। क्योंकि व्यक्ति जन्मना सादा होता है इसलिए उसके विकृति के भी ख़तरे बने रहते हैं । वह कविता ही है जो उसकी इन्द्रियों और संवेदनाओं को संस्कारित-संवर्द्धित-परिमार्जित करती चलती है और विकृति के ख़तरों को निरस्त करती चलती है।

शमशेर बहादुर सिंह हिंदी के इकलौते कवि हैं जिनकी कविताओं से उसी ढंग से नहीं मिला जा सकता जैसे हम अन्य कवियों के पास जाते हैं। उनकी कविताएँ गूढ़, विशिष्ट इन्द्रियबोध और अर्जित विवेक के धरातल पर एक पाँव से किसी शास्त्रीय नृत्य की अभूतपूर्व प्रस्तुति हैं। उनके विवेक

और उनके आत्म के बीच वह जो अंतराल का भ्रम है वह उनकी साधना का पुरस्कार है। लेकिन हिंदी आलोचना ने उस अंतराल को एक खाईं के रूप में प्रायोजित किया और बारी-बारी से दोनों छोर के लोग शमशेर को उस खाईं में धकेलने की कोशिश करते आये हैं। ...और वह कवि भी काल से होड़ किये बैठा है– 'अपराजित तू- तुझमें अपराजित मैं वास करूँ।'

अवबोध और विचारधारा प्रकृततः विपरीत मूल्य हैं, परन्तु शमशेर ने इन्हें कभी बारी-बारी से कभी साथ-साथ अपनी कविता में साधने का प्रयास किया है। इस शोध-ग्रन्थ में उसी समस्या और संभावना को समझने की कोशिश की गयी है जिसके तहत ध्रुवांत मूल्यों के संयोजन और निर्वहन का प्रयत्न किया जाता है। शोध-ग्रन्थ तीन अध्याय में विभाजित है। प्रथम अध्याय में अवबोध और विचारधारा के स्वरुप, परिभाषा और हिंदी कविता में उनकी उपस्थिति को पहचानने का प्रयास किया गया है। विचारधारा का अर्थविस्तार करके सभी दार्शनिक स्कूल को भी उसी के अंतर्गत रखा गया है। अवबोध की अवधारणा मॉरीस मार्लो-पोंती के दार्शनिक सिद्धांतों द्वारा निर्देशित है। दूसरा अध्याय शमशेर के रचना-संसार के परिचय और मूल्याङ्कन का अध्याय है। इस अध्याय में उनके चित्रों और ग़जलों पर भी परिचयात्मक, आलोचनात्मक दृष्टिपात है। इस अध्याय में दो मौलिक प्राप्तियाँ हैं- पहला, शमशेर के सौन्दर्यबोध में जेंडर न्यूट्रलिज़्म के संकेतों को तलाश करने की प्राप्ति; दूसरा, शमशेर की कविताओं में पैराफ्रेजिंग की काव्यात्मक व्याख्या की प्राप्ति। मेरी अध्ययन-सीमा के अंतर्गत हिंदी में पहली बार शमशेर के पैराफ्रेजिंग की व्याख्या

इसी शोध-ग्रन्थ में की जा रही है । तृतीय अध्याय में एक व्यक्ति के रूप में किसी रचनाकार के सामाजीकरण और सामाजीकरण तथा रचना के बीच के आंतरिक संबंधों के विज्ञान की रूपरेखा है । इस अध्याय में शमशेर की कविता की जानिब से अवबोध और विचारधारा के अंतर्संबंधों को समझने का भी प्रयास है । इस शोध-ग्रन्थ में मुख्यतः चिन्तनात्मक-मननात्मक शोध-प्रविधि का प्रयोग किया गया है परन्तु द्वितीय अध्याय में कहीं-कहीं तुलनात्मक शोध-प्रविधि भी प्रयुक्त है ।

शब्द देना सीमित करना होता है । विडम्बना यह है कि यह अपराध हम अपने प्रिय लोगों के लिए ही करते रहे हैं । लेकिन औपचारिकताओं का एक अनुशासन होता है । मैं अपने निर्देशक, डॉ. एम. अंजनेयुलू का शुक्रगुजार हूँ जो अपनी सीमाओं के बावजूद शोध-कार्य में आद्यन्त सकारात्मक दखल देते रहे । मैं हैदराबाद विश्विद्यालय के अध्यक्ष प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी सहित सभी प्राध्यापकों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ । मेरे पार्श्व में जो खाद-पानी बन गए; इस ईमारत में स्वेच्छा से जो नींव बनना चुन लिए उन्हें शब्द नहीं दूँगा ।

बाकी सबकुछ के लिए-

मैं इंसान हूँ, बहुत-सी छोटी-छोटी चीजें जोड़कर बना हूँ

और उन सब के लिए

जिन्होंने मुझे बिखर जाने से बचाए रखा

मेरे पास बहुत शुक्राना है

मैं शुक्रिया कहना चाहता हूँ ।

-पराग पावन

प्रथम अध्याय

अवबोध और विचारधारा : परिभाषा, स्वरुप और हिंदी कविता में उपस्थिति

- कहना मुश्किल है कि मनुष्य में प्रकृततः न्यस्त ज्ञान की तोषहीनता उसके पक्ष में पड़ती है या विपरीत, परन्तु इसी भाव ने सृष्टि में कलाओं का आह्वाहन किया और विज्ञान का भी। विज्ञान ने भौतिक अंतरालों को कम किया। परिणामतः कलाओं की विशिष्ट गतियाँ परस्पर उपलब्ध हुई हैं।

हिंदी साहित्य ही नहीं वरन समूचे भारतीय वांग्मय में अवबोध के सन्दर्भ में कोई सूचना या संवाद उपस्थित नहीं है। हिंदी साहित्य से अवबोध का परिचय भूमंडलीकरण का दाय है। अवबोध की उस परिभाषा से पूर्व, जिसे इस शोध-ग्रंथ में आधार बनाया गया है, अवबोध के शाब्दिक अर्थों और उद्धरणों पर एक दृष्टिपात समीचीन होगा-

1. “अवबोध–जागरण, जागना; ज्ञान,बोध; न्यायपरता, मुंसिफ़ी; शिक्षा, तालीम।”[1]

2. “अवबोध – जागने की क्रिया या भाव, जानना, ज्ञान, बोध।”[2]

3. “अवबोध – जागना, ज्ञान, विवेक, दर्शन(अनिर्णीत बोध)”[3]

4. “PERCEPTION – १. प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रत्यक्ष बोध, बोध क्षमता; २. (सत्य सौन्दर्यगत विशेषताओं आदि का) सहजज्ञान, सहजानुभूति; ३. वह

---

[1] वसु, नगेन्द्रनाथ(सं.), द इनसाक्लोपीडिया इण्डिका, भाग- २, बी. आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली, 1917 ई., पेज. 289

[2] वर्मा, रामचंद्र(सं.), मानक हिंदी कोश, पहला खण्ड, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग, 1966 ई., पेज. 200

[3] बाहरी, डॉ. हरदेव, हिंदी शब्दकोश, रवीन्द्र प्रेस, दिल्ली, 1994 ई., पेज. 36

क्रिया जिसके द्वारा मस्तिष्क अपनी अनुभूतियों को कारण की बाह्य वस्तुओं के साथ सम्बन्धित करता है ।"[1]

5. "PERCEPTION – १. To see what is right, and not do it, is want of courage, or of principle. - Confucius २. The heart has eyes that the brain knows nothing of. – C.H. Parkhurst ३. We like to divine others, but do not like to be divined ourselves. – Rochefoucauld"[2]

बीसवीं सदी के फ्रेंच दार्शनिक, विचारक व साहित्यशास्त्री मॉरीस मार्लो-पोंती ने अवबोध के सन्दर्भ में गंभीर चिंतन किया । उनके अनुसार "....अवबोध का उससे कुछ भी लेना-देना नहीं है जिसे हम अन्य तरीकों से जानते हैं- संसार के बारे में, उद्दीपक के बारे में, जिसका वर्णन भौतिक विज्ञान करता है या इन्द्रियों के बारे में, जिसका जीवविज्ञान वर्णन करता है । यह प्रथमतया स्वयं को संसार की एक ऐसी घटना के रूप में प्रस्तुत नहीं करता जहाँ कार्य- कारण का नियम लागू किया जा सके, बल्कि हर पल वह संसार की पुनर्रचना या पुनर्गठन के रूप में प्रस्तुत होता है ।"[3] अवबोध की यह परिभाषा जटिल मनोवैज्ञानिक प्रश्नों से अछूती नहीं है । इसीलिए अवबोध के सन्दर्भ में साहित्यशास्त्री किसी निर्णायक मत पर

---

[1] मिश्र, बलभद्रप्रकाश, सत्यप्रकाश, मानक अंग्रेजी हिंदी कोश, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1983 ई., पेज. 997

[2] एडवर्ड्स, ट्रॉन, द न्यू डिक्शनरी ऑफ़ थॉट्स, स्टैनबुक का., लन्दन, 1977 ई., पेज. 475

[3] मॉरीस मार्लो पोंती, फिनॉमिनालॉजी ऑफ़ परसेप्शन, रूत्लेज़ एंड केगन पॉल, न्यू यॉर्क, 1962 ई., पेज. 240 (पुनरुद्धरित) रमण सिन्हा, शमशेर का संसार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पेज.13

नहीं पहुँच सके हैं । अवबोध की प्रस्तुत परिभाषा में कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों एवं सत्यों का उलंघन है । उदाहरण के लिए प्रत्येक अभिव्यक्ति व्यक्ति के पूर्वज्ञानों व संचित अनुभवों से पूर्णतः निरपेक्ष नहीं हो सकती । कवि का प्रत्येक स्वर अनिवार्यतः बीते क्षणों से संक्रमित होगा । परन्तु मलयज लिखते हैं- "कविता में spontaniety की बात पर और क्षण की तीव्र अनुभूतियों की अनिवार्य अभिव्यक्ति के प्रश्न पर उन्होंने(शमशेर) कहा की डकार भी spontaneous होती है । क्षण की अनुभूतियों की अनिवार्य अभिव्यक्ति (क्योंकि क्षण गुजर जाने पर दुबारा संभव नहीं है) के साथ हमें यह सोचना ही होगा यह क्षण किसका है: हमें नेहरू और गेटे और शेक्सपियर (मिसाल के तौर पर) का क्षण चाहिए- एक साधना के बाद तपा हुआ, प्रखर, उम्दा और कीमती क्षण ।"[1] शमशेर जिस तत्क्षणता, स्वतःस्फूर्तता की बात कर रहे हैं, वही तत्क्षणता अवबोध को भी जन्म देती है । परन्तु कला में, विशेषतः कविता में इन स्वाभाविक तत्क्षण अभिव्यक्तियों का महत्व तभी स्वीकार्य है जब वह कलाकार-रचनाकार के जीवनानुभवों के ताप में पकी हुई हों । शमशेर का यह बयान अवबोध की निर्मिति की ओर गहरा संकेत करता है । महान व्यक्तित्वों से उपजी क्षण की अनुभूतियों की अनिवार्य अभिव्यक्ति वही महत्व नहीं रखती जो सामान्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति रखती है । बाहर से यह वस्तुनिष्ठता बनाम व्यक्तिनिष्ठता का प्रश्न प्रतीत होता है; और अवबोध के स्वरूप को इस बहस

[1] नामवर सिंह(सं.), मलयज की डायरी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2000, पेज 459

से निरपेक्ष समझा भी नहीं जा सकता। जैसे सौन्दर्य के बारे में, और सत्य के बारे में भी, फलतः नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तुगत है या व्यक्तिगत; उसी तर्ज पर अवबोध के बारे में भी नहीं कहा जा सकता। इस क्रम में एक कथा से मदद मिल सकती है- दो मित्र विद्यालय से लौट रहे हैं। आज स्कूल में पहले छात्र को अपना पाठ याद करने के लिए शाबासी मिली है। वह खुश है। दूसरे छात्र को लापरवाही और भूल के लिए दंड मिला है। वह उदास और चुप है। घर लौटते समय आसमान में काले बादल तरह-तरह के चित्र गढ़ रहे हैं। अचानक से पहला छात्र, जिसे शाबासी मिली है और खुश है, एक बादल को देखकर चहक उठता है। अपने मित्र से कहता है- देखो! वह बादल हू-ब-हू गुलाब के फूल जैसा है। दूसरा मित्र पहले बादल को देखता है और फिर आश्चर्य-से प्रश्न की मुद्रा में अपने मित्र को देखकर कहता है- यह तो स्यार का मुख है, गुलाब कहाँ हैं? कथा का अंत यहीं सिर्फ उनके मतान्तरों की ओर संकेत नहीं करता, बल्कि व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं से प्रभावित बोध की संक्रिया का प्रतिपादन भी करता है। यद्यपि बादल का गुलाब की तरह दिखना या बादल में स्यार-मुख की प्रतीति अवबोध नहीं है। बादल की आकृति में स्यार या गुलाब की आकृति का समय है। जहाँ साम्य है वहाँ अवबोध अनुपस्थित रहेगा। साम्यता में एक विज्ञान है। यदि ऐसा नहीं होता तो सभी साम्यमूलक अलंकार अवबोध साबित हो जाते। कहा जा सकता है कि

किसी के चरण देखकर मैं उन्हें कमल कह सकता हूँ और यह अवबोध की परिघटना होनी चाहिए। जबकि चरण-कमल में भाव साम्यता है। उसमें एक तार्किक संगति है। दूसरी अभिव्यति में कवि अपनी पसलियों को 'इंतजार की ठेलेगाड़ियाँ' कहता है। दूसरी अभिव्यक्ति में वही तत्क्षणता है जिसे शमशेर कविता में जरूरी मानते हैं।

अज्ञेय लिखते हैं- " कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सच है। यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नही है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है, उतना ही कव्योत्कर्षकारी है। किन्तु यदि हम यह मान लेते हैं, तब हम 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यापक सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उस के कई स्तरों की उद्भावना करते हैं, और कवि इन स्तरों में किसी पर भी हो सकता है।"[1] अवबोध मूलतः और अंततः 'व्यक्ति सत्य' है। 'व्यापक सत्य' दर्शन का विषय है- ऐसा कहने का परोक्ष आशय यह नहीं कि वह कला-क्षेत्र में वर्जित है या उसकी उपस्थिति अनिवार्यतः कविता या कला को गर्त में ले जाएगी। वस्तुतः रचना या कला की पहली और अनिवार्य शर्त है- मौलिकता। यह भी सच है कि कला के ही क्षेत्र में ही नहीं, विज्ञान से लगायत किसी भी अनुशासन में नितांत मौलिकता की माँग या अपेक्षा न सिर्फ़ तार्किक रूप से गलत है, बल्कि अपनी पूर्वज चेतना का नकार और

[1] अज्ञेय(सं.), तार सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, 2011, पेज 221

अपमान भी है । मौलिकता से यह आशय लेना चाहिए कि पूर्ववर्ती चेतनाओं ने जिन सीमाओं का सृजन किया है, उनका अतिक्रमण कर नई सीमाओं की चुनौती पेश की जा सके । 'व्यक्ति सत्य' में मौलिकता की सम्भावना और प्रायिकता अधिक है । 'व्यक्ति सत्य' का पक्षधर रचनाकार ही अवबोधपरक रचनाएँ प्रस्तुत कर सकता है । अज्ञेय इस बहस के लिए अवकाश देते हैं कि रचनाकार आत्म और वस्तु के बीच कहीं भी हो सकता है । यदि वह वस्तुग्रस्त होगा तो असहमति का भी सृजन करेगा । परन्तु, यदि रचनाकार आत्मग्रस्त होगा और सृष्टि के केंद्र में स्वयं को रखकर सृष्टि की व्याख्या करेगा तो उसमें एक चिन्मय होगा जो पाठक, द्रष्टा या श्रोता को उल्लास से भर देगा । आत्मनिष्ठ रचनाकार ही अवबोध को जन्म दे सकता है ।

अवबोध का प्रत्येक उत्पाद अनछुए, अदेखे की गंध से सिक्त होगा । नूतनताओं की सही-सही व्याख्या अवबोध के माध्यम से ही सम्भव है । मुक्तिबोध शमशेर के संदर्भ में जो पहली बात कहते हैं, वह यह है - "शमशेर की आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली भवन अपने हाथों तैयार किया है । उस भवन में जाने से डर लगता है- उसकी गंभीर प्रयत्नसाध्य पवित्रता के कारण ।"[1] यह पवित्रता अवबोधजन्य पवित्रता है । परंतु किसी पाठक-आलोचक को इस पवित्रता से डरने की आवश्यकता

[1] बृजनारायण शर्मा, हरि भटनागर(सं.), रचना समय, भोपाल, 2010 मई-जून, पेज 17

नहीं है । अवबोध मनुष्य के जीवन में जमी ऊब की हत्या करता है । वह दुहरावजनित शुष्कता में नए राग-रंग को जन्म देता है । मुक्तिबोध शमशेर की कविताओं में जहाँ पवित्रता लक्षित करते हैं और जिसका समर्थन नामवर सिंह भी करते हैं, वह आत्मा की मौलिक अभिव्यक्ति की ही पवित्रता है ।

अवबोध का स्वरूप अमूर्तन का है। परन्तु अमूर्तन अवबोध का अनिवार्य गुण नहीं है । अमूर्तन मात्र 'शून्यता के नरक' से लड़ते हुए मनुष्य की प्रतिक्रिया नहीं है । वह अभिव्यक्ति के माध्यमों की सीमितता के विरूद्ध स्वतंत्र चेतना की आवाज है । यही स्वतंत्रता अवबोध को भी संभव बनाती है । अवबोध स्वयं स्वतंत्र है परंतु, यह रचनाकार के परिवेश से सर्वथा मुक्त है या नहीं, इसकी जाँच अंतिम अध्याय में की जायेगी ।

रचनाकार का एक ऐतिहासिक सेन्स भी होता है । अभिव्यक्ति के किसी भी माध्यम और रूप में रचनाकार का ऐतिहासिक सेन्स निर्णायक भूमिका निभाता है । यह ऐतिहासिकता उसकी सामाजिकता निर्मित करती है । अतः यदि हम किसी रचनाकार के सन्दर्भ में इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि वस्तुवादी दृष्टिकोण से उपजी अमुक रचना सत्य के बेहद करीब है, तो न सिर्फ़ हम एक गलत निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, बल्कि रचना-प्रक्रिया के एक सार्वभौमिक सत्य का भी अपमान करते हैं । सत्य रचनाकार के तईं निश्चित ही अंतिम हो सकता है, प्रायः होता है, परन्तु

सार्वभौमिक और सार्वकालिक नहीं हो सकता । कई बार रचनाकार का सत्य और उसका सौन्दर्य-मानक पूर्ववर्ती प्रस्तुतियों से इस सीमा तक भिन्न होता है कि उसे समकाल अग्राह्य भी घोषित कर देता है । संत कवियों का रहस्यवाद अबतक अनसुलझा ही है । उसकी कई मान्य व्याख्याएँ भले ही अध्ययन-अध्यापन के क्रम में शामिल हैं ।

यहीं रोलां बार्थ की अवधारणा 'लेखक की मृत्यु' को इस संदर्भ में समझना सहायक होगा । संत कवियों का रहस्यवाद कम-से-कम उन कवियों के लिए रहस्य न रहा होगा जिन्होंने वैसी कविताएँ रचीं । परवर्ती मनीषियों ने जो उनकी व्याख्याएँ की, वे यदि अतार्किक, जबरिया और हास्यास्पद न हों तो रचना का विस्तार भी सम्भव है । कवि के स्वयं के पाठ से भिन्न अध्येता का पाठ कविता का संकुचन भी कर सकता है और विस्तार भी; परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है कि व्याख्या हास्यास्पद और अतार्किक नहीं है तो वह पूर्णतः वैध मानी जानी चाहिए । रोलां बार्थ मात्र 'डेथ ऑफ़ ऑथर' की ही बात नहीं रखते, वे 'बॉर्न ऑफ़ रीडर' की भी बात रखते हैं । कोई लेखक किसी रचना के पूर्ण होते ही उससे अलग हो जाता है। अब वह तमाम पाठकों की की तरह उस कविता का एक पाठक-मात्र रह जाता है ।

अवबोध की दुरुहता को इस दृष्टि से भी खारिज किया जा सकता है परंतु अवबोध एक सौंदर्यजनक काव्य-तत्व है । तार्किक क्षमताओं से यदि

उसकी कोई वैध व्याख्या संभव भी हो सके तो वह अवबोध का प्राप्य नहीं होगा । शमशेर की अवबोधपरक कविताओं के आधार पर ही उन्हें दुरूह-जटिल कवि घोषित किया गया। ... और यह काम पूरी निष्ठा से सामान्य पाठक से लेकर प्रतिष्ठित आलोचकों तक ने किया । नामवर सिंह लिखते हैं- "शमशेर में रूप और लीलाएँ हैं, जैसे असंगतियाँ साथ-साथ निवास करती हैं और इस प्रक्रिया में कभी-कभी अधूरा वाक्य अधर में ही लटकता रह जाता है । सिर्फ संयोग की बात नहीं कि शमशेर की अधिकांश कविताओं की परिणिति मौन में होती है और बीच- बीच में शब्द के स्थान पर खाली जगह अक्सर मिलती है ।"[1] असंगतियाँ शमशेर के अनिर्णय-विवेक से नहीं उपजी हैं । वे अवबोध की शुद्धतम अभिव्यक्ति और सामाजिक- राजनीतिक अभिव्यक्ति का संतुलित निर्वहन हैं । कुछ चित्र जिनमें किसी ऐसी अन्योक्ति की छाया सृजित नहीं की जा सकती थी, शमशेर ने उसे अपनी अवबोधात्मक चेतना में ही सिरजा है । शमशेर की कविता 'शिला का खून पीती थी' के संदर्भ में विजयदेव नारायण साही और रघुवीर सहाय की टिप्पणियाँ अवबोध और अतिरिक्त व्याख्या को अधिक स्पष्ट करेंगी । कविता है –

शिला का खून पीती थी

[1] नामवर सिंह, शमशेर बहादुर सिंह: प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, आठवाँ संस्करण, 2016, पेज 5

वह जड़

जो कि पत्थर थी स्वयं ।

सीढियाँ थीं बादलों की झूलती

टहनियों – सी

और वह पक्का चबूतरा,

ढ़ाल में चिकना;

सुतल था

आत्मा के कल्पतरु का ?

इस कविता के संदर्भ में प्रथमतः साही की टिप्पणी देखी जाय- “पूरी कविता के भीतर एक विशाल अनुपस्थिति की व्यंजना होती है । इस निषिद्ध उटोपिया के पास पहुँचने पर भी बिम्ब अपनी बिम्बलौकिकता खोने लगते हैं; वे बिम्ब नहीं रह जाते; वे प्रतीक हो जाते हैं । ये प्रतीक, किसके प्रतीक हैं? ये प्रतीक हैं- कुछ नहीं के । अक्षरशः कुछ-नहीं के । ...हाशिए की इस ऋण दिशा में भी कविता जैसे-जैसे बढती है, अपनी

मृत्यु की ओर बढ़ती है । इसलिए कि इसके आगे पागलपन, मानसिक विक्षिप्तता की स्थिति है, जो चेतना की मृत्यु का पर्याय है । घबरा-घबरा कर शमशेर इस प्रतीकात्मक अतियथार्थ से वापस लौटते हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं । वह अपने होशो-हवास की दुरुस्ती को बनाए रखने के लिए ही संघर्ष करते हैं ।"[1] साही की ये व्याख्या शमशेर की वस्तुपरकता का निषेध है । यह मार्क्सवाद के प्रति शमशेर की प्रतिबद्धता को फलहीन घोषित करने का दुखद प्रयास है । साही अपनी सीमा को शमशेर की सीमा बता रहे हैं । यह अतियथार्थवादी अवबोध है शमशेर का । जरूरी नहीं की उसके मर्म को सौ फीसदी उद्घाटित ही किया जा सके ।

एक पाठक के रूप में, उससे भी बढकर एक आलोचक के रूप में साही ऐसी व्याख्या के लिए पूर्णतः स्वतंत्र हैं, परन्तु स्वयं कवि ने इस कविता के संदर्भ में संकेत दिया है । रघुवीर सहाय लिखते हैं- "शिला का खून' के बारे में शमशेर जी ने तब, आठवें दशक में, मुझे बताया था कि 1942-43 में जब वे अपने मामा जी के साथ जबलपुर में रहते थे, घर के निकट स्थित पथरीले मैदान पर एक विशाल वृक्ष की जड़ें शिला में इस कदर धँसी हुई थीं कि वे पत्थर जैसी ही जान पड़ती थीं- यह बिम्ब एक अन्य कविता में भी इस भाँति दर्ज हुआ है- 'जड़ों का भी कड़ा जाल/हो

[1] मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, चंचल चौहान(सं.), नया पथ, नयी दिल्ली, जुलाई- सितम्बर, 2011, पेज 52

चुका पत्थर' । उन्होंने बताया था कि नीची सड़क से ऊँचे मैदान तक पहुँचने के लिए कुछ सीढ़ीयाँ चढ़नी पड़ती थी, जो पेड़ की पत्तियों से ढँकी रहती थीं । मैदान पर एक पक्का चबूतरा भी बना था, जिसपर वे कभी-कभी बैठा करते थे । इसी दृश्य को उन्होंने अपनी डूडलिंग का विषय बनाया था और बाद में उसपर ये कविता लिखी थी ।"[1] शमशेर प्रदत्त ये संकेत कविता की बिलकुल दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । साही की व्याख्या में नकारात्मकता है । एक तरह से यह नॉस्टेल्जिया की कविता है, जिसे कवि एक दार्शनिक रंग देने की कोशिश करता है । इसी कविता के सन्दर्भ में रंजना अरगड़े लिखती हैं- "इन दोनों कविताओं में बिम्ब ही पूरा सुररियल है । विशेषकर शिला का खून पीने की जो कल्पना है वह । चेतन जड़ को अचेतन बनाकर अचेतन शिला को चेतन बनाना अपने आप में

सुररियलिटी है ।"[2]

प्रतीक, बिम्ब, अतियथार्थ, चित्र-स्मृति, प्रभाववाद और अवबोध के बीच इस कविता का सच तय करना न सिर्फ मुश्किल है, वरन कविता में मौजूद अर्थ-परत के बहुवचन की संभावना का नकार भी है । मेरे तईं साही की व्याख्या अल्पमूल्यन से दूषित है । रंजना अरगड़े की टिप्पड़ी में कवि-व्यक्तित्व पर सुदूर फले-बढ़े काव्यान्दोलन के साम्राज्य की छाया कायम की गयी है । यद्यपि शमशेर ने स्वयं अपनी रचनाधर्मिता पर सुररियलिज्म के प्रभाव को स्वीकार किया था । फिर भी इस तरह की व्याख्याओं में कवि

---

[1] मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, चंचल चौहान(सं.), नया पथ, नयी दिल्ली, जुलाई- सितम्बर, 2011, पेज 58

[2] डॉ. रंजना अरगड़े, कवियों के कवि शमशेर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1988, 1998, पेज 151

की मौलिकता भी अनचाहे ही चली आती है। शमशेर ने स्वयं जो संकेत दिया है, वह सटीक तो है, पूरी कविता उतने से व्याख्यायित नहीं होती।

इस कविता की पहली ही पंक्ति में कवि का अवबोध अपने स्वस्थ रूप में चमकता है। जड़ शिला का खून पीती थी। जड़ अन्य द्रव भी पी सकती थी। वहाँ पानी, शराब, दूध कुछ भी पीने का आग्रह हो सकता था। परन्तु खून पीना कवि का अवबोध है। यह अतियथार्थवादी अभिव्यक्ति भी है। यह तब और पुख्ता हो जाता है जब पत्थर का खून पीने का चित्र लाया जाता है। पत्थर जड़ता का प्रतीक है और उसमें रक्त की उपस्थिति का आग्रह, जोकि संचार और चेतना का प्रतीक है, एक तार्किक असंगति पैदा करता है। अवबोध में प्रश्नवाची मुद्राओं के लिए अवकाश नहीं है। वह अतियथार्थवाद की कसौटिओं पर खरी उतरती है परन्तु सिर्फ वही उसका सच नहीं है। पत्थरों के भीतर तक घुसने वाली जड़ पत्थरों का खून पी रही है। संभव है कोई इसे शोषण का प्रतीक समझे और वो हो भी सकता है परन्तु जिस क्षण कवि के मनोजगत में यह पंक्ति कौंधी होगी, इसी विवेक और अर्थ-गर्भ के साथ नहीं उपजी होगी। मनुष्य, विशेषतः कलाकार के अनुभव-संवेदन बहुधा चेतना के पार्श्व में चले जाते हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं- "लेखक के मन में लगातार एकत्रित होते जाने वाले इन तत्वों का इतना बोझ होता है और ईश्वर ने या समय ने उसे इतना कम अवकाश दिया है कि अनेक कलात्मक नमूनों में उनकी पुनर्रचना हो नहीं

पाती । इसके फलस्वरूप वे तत्व मर नही जाते, अंडरग्राउंड चले जाते हैं ।”[1]

इसी संदर्भ में मलयालम के एक कवि की रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में बतायी हुई एक घटना का जिक्र समीचीन होगा- कवि अपनी एक कविता में कृष्ण की गुमशुदगी का ग्वाल-बालाओं पर होने वाले प्रभाव का अंकन करता है । गोपियाँ कृष्ण के लापता होने के कारण व्यथित हैं । उदास हैं । जिस रात वह कविता लिखी गयी, उस दिन कवि अपने मित्र के घर जाता है । कुर्सी पर बैठता है । पास ही पड़ा अख़बार उठा लेता है । पढ़ना आरम्भ करता है । अख़बार में एक व्यक्ति के खोने की रिपोर्ट है । वह लापता व्यक्ति कवि-प्रोफेसर का छात्र होता है । इस सूचना को वह चुपचाप अंतस में बैठ जाने देता है । परन्तु वह सूचना जो विचलन पैदा करती है, जिस हलचल को जन्म देती है, उससे रात होते-न-होते एक कविता उपजती है जिसमें कृष्ण के खोने की घटना, तत्पश्चात गोपियों की व्यथा दर्ज होती है । पूरी कविता में कहीं भी अपने विद्यार्थी के गुमशुदा होने का संकेत नहीं है । वह एक महत्वपूर्ण कविता के रूप में चर्चित हुई ।

मुक्तिबोध भी इसी अंडरग्राउंडिंग की बात कर रहे हैं । कवि-चेतना में लापता होने से उत्पन्न व्यथा-बेचैनी उमड़-घुमड़ रही थी । रात तक वह बेचैनी अपना रूप बदलकर विस्तृत अर्थ के साथ प्रकट होती है । यह विचलन कवि के वैयक्तिक जीवन से आया था, परन्तु कई बार विचलन

[1] गजानन माधव मुक्तिबोध, एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, 2011, पेज 78

समाज का भी होता है, देश का भी होता है । कहना मुश्किल है कि इस कविता-रचना में काम कर रहे अंडरग्राउंड तत्व को जानना या जानने की कोशिश सही है या नहीं । यदि जान-समझ लेते हैं तो कविता को निश्चित/ सीमित कर देते हैं । यदि नहीं समझ पाते तो नए-नए अर्थ-गर्भाधनों का सृजन संभव होता है, परन्तु उसकी सर्वाधिक जरूरी व्याख्या से वंचित रह जाते हैं ।

शिला का जड़ द्वारा खून पीने की अभिव्यक्ति में किसी अंडरग्राउंड प्रेरणा, संस्कार की छाया होगी, जिसे समझना सम्भवतः जटिल हो । इसी कविता की दूसरी चित्र-रचना में सादृश्यता का प्रभाव है । 'सीढियाँ थीं बादलों की झूलती/ टहनियों-सी'- यहाँ बादलों और टहनियों में झूलने की सादृश्यता है । इसमें कवि का अलंकारिक मन व्यस्त है । परन्तु वे बादल साधारण नहीं, सीढ़ियों के बादल हैं । यह अवबोध की परिघटना है । सीढ़ियों के ऊँचे चढ़ते जाने की एक सामान्य अभिव्यक्ति यह होगी की वे इतनी ऊँची हैं कि बादलों को छू लें, परन्तु कवि ऐसा न कहकर बादलों की सीढ़ियों का चित्र खींचता है ।

इस कविता का आखिरी अनुच्छेद शुद्ध अवबोध का उदाहरण है । एक पक्का चबूतरा, जहाँ कवि कभी जाता था, जो उसकी स्मृतियों में बचा रहा गया, उसकी सुतलता, उसके ढ़ाल की चिकनाई उसे आत्मा के कल्पतरु का चबूतरा मानने के लिए उकसाते हैं । यदि चिकनाई, स्निग्धता; ढ़ाल, विनम्रता; सुतलता, गांभीर्य और पक्कापन, दृढ़ता का प्रतीक मान भी लिया जाय तो उसे आत्मा का कल्पतरु कहना बहुत तार्किक नहीं जान पड़ता ।

जरूरी नहीं की प्रत्येक अभिव्यक्ति को विवेक की कसौटी पर कसा ही जाय। उसे महसूस करके मुक्त भी किया जा सकता है।

शमशेर स्वयं कहते रहे हैं- "हम-आप ही अगर अपने दिल और नजर का दायरा तंग न कर लें तो देखेंगे की हम-सब की मिली-जुली ज़िन्दगी में कला के रूपों का खजाना हर तरफ बेहिसाब बिखरा चला गया है। सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है। अब यह हम पर निर्भर है, खासकर कवियों पर, कि हम अपने चारों ओर की इस अनंत और अपार लीला को कितना अपने अन्दर घुला सकते हैं।"[1] सुन्दरता का यह अवतार महज बाहरी नहीं है, भीतरी भी है। वस्तुतः बाह्यजगत के लिए अन्तस् की प्रतिक्रिया ही सुन्दरता का अवतार है। वस्तुजगत के लिए अन्तःजगत क्या प्रतिसंवेदन व्यक्त करेगा, यह अन्तःजगत की रचना-संरचना पर निर्भर है। यह इस पर निर्भर है कि अन्तःजगत के निर्माण में किन तंतुओं की कितनी भूमिका है। इतिहास, समाज, धर्म, राजनीति, अर्थ इत्यादि सब कुछ मिलकर ही अन्तःजगत का निर्माण करते हैं और अन्तःजगत के वैशिष्ट्य का निर्धारण भी करते हैं। 'सूर्यास्त' कविता में शमशेर के अनुभव का वैसा ही वैशिष्ट्य जाहिर होता है-

सूर्य मेरी अस्थियों के मौन में डूबा।

गुट्ठल जड़ें

प्रस्तरों के सघन पंजर में

[1] अज्ञेय(सं.), दूसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1970, पेज 80

मुड़ गईं ।

व्योम में फैले हुए महराब के विस्तार

स्तूप औ’ मीनार नभ को थामने के लिए

उठते गये ।

विकटतम थे अति विकटतम

विगत के सोपान पर्वत श्रृंग ।

शमशेर के लिए सूर्यास्त सिर्फ बाहर नहीं घटित हो रहा, वह भीतर भी घटित हो रहा । सूर्य पश्चिम में डूबता है- यह वस्तुजगत का सत्य है । परन्तु कवि के अनुभव जगत में सूर्य उसकी हड्डियों के मौन में डूबता है । यह कवि का अपना अर्जित सत्य है । यह आत्मनिष्ठ अवबोध है । जड़ों के पत्थरों के पंजर में मुड़ने का बिम्ब ‘शिला का खून पीती थी’ की याद दिलाता है जिसके संदर्भ में शमशेर ने स्वयं कहा था । क्षीण होती रौशनी की पृष्ठभूमि में नभ के गिरने का चित्र है । बादलों का साँवलापन लगातार ऊपर उठता-सा जान पड़ता है, जिन्हें कवि मेहराब, स्तूप, मीनार कह रहा है । नभ को थामने की जद्दोजहद इतना सुगम नहीं है । गुजरी हुई पर्वत-समूह-श्रृंखलाएँ विकट थीं । यह शमशेर का भी विगत है । विकटतम है । कहना चाहिए यह शमशेर का ही विगत है । उनकी कई कविताओं में इसे प्रामाणिक रूप से लक्षित किया जा सकता है ।

अवबोध, इम्बिग्युटी और एब्सट्रेक्शन कृत्रिम नहीं हो सकते । प्रयासगत अवबोधात्मक अभिव्यक्ति सौन्दर्यहीन तो होगी ही, उसकी प्रभावशीलता भी नगण्य होगी । इसका बड़ा कारण यह है कि प्रत्येक अवबोध प्रथमतः सौन्दर्यानुभूति है । ...और सौन्दर्य अपनी समग्रता में ही जाहिर होगा; भाषा में, टेकनिक में और कथ्य में, वह सौन्दर्य इस तरह से निहाँ होगा कि अलग-अलग सौन्दर्य की किसी सत्ता की संभावना नहीं बची रह जाएगी । अपने एक साक्षात्कार में शमशेर 'सूना-सूना पथ है, उदास झरना' कविता के सन्दर्भ में कहते हैं- "और देखिये मेरे सामने कविता बिलकुल शब्दों के साथ आती है जैसे वो कविता 'जहाँ वह काली युवती हँसी थी' तो मैं उन दिनों मसूरी में था रोज सुबह घूमने निकलता था । पिताजी उन दिनों वहीं थे । तो मैं पहाड़ियों में रोज घूमने निकलता था जहाँ एक लड़की मिलती थी, जिससे पता नहीं क्यों मैं बेइंतहा खींचा । मैं उसके पीछे-पीछे चलता था, काफी फासला रखकर ताकि वो मार्क न करे कि कोई पीछा कर रहा है, इस तरह से वो लडकी थी: बहुत कम उम्र थी यानी यही कोई चौदह-पंद्रह साल । एक अबोधमना भी था उसमें जैसे 7वीं, 8वीं, 9वीं की लड़कियों की होती है । एक सहज सौन्दर्य था- मध्यवर्ग का सहज सौन्दर्य । तो उसमें जो तीन-चार पंक्तियाँ हैं: 'सूना-सूना पथ है, उदास झरना / एक धुँधली बादल-रेखा पर टिका हुआ आसमान/ जहाँ वह काली युवती हँसी थी ।' वो आई, एकदम आई यानी लिखी हुई... फिर वो कविता हो गयी या हाइकू हो गयी या क्या हो गया ।"[1] यदि

[1] रमण सिन्हा, शमशेर का संसार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013, पेज 181

शमशेर की उक्त कविता में किसी को अनेकार्थकता दिखती भी है तो उसके लिए कवि की तरफ से कोई प्रयत्न नहीं है । पूरा दृश्य ही कवि के मनोजगत पर उसी रूप में उतरा है । उसी साक्षात्कार में शमशेर कहते हैं- “एब्सट्रेक्शन को एब्सट्रेक्शन के नाम पर डिफेंड करना ठीक नहीं है । एब्सट्रेक्शन की वकालत ठीक नहीं । एब्सट्रेक्शन है क्योंकि कोई चारा नहीं है कोई दूसर रास्ता सामने था नहीं ।”[1] एब्सट्रेक्शन विकल्पहीनता का चुनाव है । अमुक बात को अमुक तरीके से पेश करने के लिए कोई दूसरा तरीका नहीं था । अवबोध भी इन्द्रियों की तीक्ष्णता और संवेदित को उसकी मौलिकता में अभिव्यक्त करना है ।

अवबोध के साथ सम्प्रेषणीयता का एक जरूरी प्रश्न भी चला आता है । उसकी प्रकृति ऐसी होती है कि सहज ही दुरूह/जटिल मान लिया जाय और कह दिया जाय । ...क्योंकि अवबोध के पीछे से एक जीवन बोल रहा होता है । हम उस जीवन से अनभिज्ञ भी हो सकते हैं; प्रायः होते हैं । यह अनभिज्ञता एक आश्चर्य को जन्म देती है । सौन्दर्य का मूल उस आश्चर्य में ही है; क्योंकि वह पाठक की अब तक की ज्ञान-राशि को विस्मित कर देती है । साहित्य-समाजों में चिरनूतन शब्द-संघातों से विस्मय रच देना साहित्य का सर्वथा अंतिम मूल्य नहीं समझा जाता । साहित्य से प्रत्यक्ष लाभ का दुराग्रह प्लेटो से लगायत समकालीन बौद्धिक-समूहों-जातियों में पाया जाता है । उपयोगितावाद की कसौटियों पर साहित्य को कसने वाली जाति अभूतपूर्व नव्यता से क्योंकर उल्लसित-आनंदित होने लगे । किसी

[1] वही. पेज 176

भी समाज की बहुसंख्यक जनता अख़बार की भाषा से अधिक नहीं समझ पाती । यह एक समाजशास्त्रीय समस्या है, जिसके बहुतेरे जाने-अजाने कारक हैं । ऐसे परिदृश्य में कविता की संप्रेषणीयता बहुत से काव्य मूल्यों से तनाव उत्पन्न करती है । कवि के सम्मुख ये बड़ी समस्या, बड़े प्रश्नवाचक चिह्न के साथ खड़ी है- वह अपनी मौलिक अनुभव-भावनाओं-प्रतिसंवेदनाओं को उसकी शुद्धता के साथ प्रस्तुत करे या उसमें सामान्य बोध प्रणालियों के तत्व डालकर उसे तरल बना दे । अवबोध पहली स्थिति में सम्भव होगा । इसीलिए वह एक सौन्दर्य भी सृजित कर पाता है । दूसरी स्थिति को कला में सही नहीं माना जाता पर संप्रेषणीयता के मानक पर यही कविताएँ खरी उतरती हैं । "आई. ए. रिचड्‌र्स सम्प्रेषण की समस्या पर विचार करते हुए एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात लिखते हैं । वह यह कि 'सम्प्रेषण सौन्दर्य नहीं है' । इस बात को समझकर सावधान हो जाने की जरूरत है । इसका मतलब यह है कि कविता में केवल अपनी बात पाठकों तक पहुँचा देने से कविता कविता नहीं हो जाती । कविता को कविता बनाने के लिए उसे सौन्दर्य के धरातल पर उतरना होगा ।"[1] यही सौन्दर्य अवबोध भी पैदा करता है ।

अनुभव की विशिष्टता ही रचना की मौलिकता और विशिष्टता है । बहुत-से रचनाकार अनुभवों, संवेदनाओं की विशिष्टता की हत्या करते हैं । इसका बड़ा कारण पाठक का विवेक स्तर है । रचनाकार को पाठक के विवेक पर भरोसा नहीं रहता । रचनाकार के अनुभव का वैशिष्ट्य पाठक

[1] डॉ. नंदकिशोर नवल, कविता की मुक्ति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1996, पेज 20

के समझ में आ ही जाये- यह आवश्यक नहीं। रचनाकार के सामने एक जरूरी प्रश्न पाठक तक पहुँचना भी है। परन्तु यदि रचनाकार इस भय से संचालित न हो कि पाठक उस तक नहीं पहुँचेगा और आलोचक उसकी गलत व्याख्या करेगा तो वह कुछ आश्चर्यजनक सृजन कर सकता है। ऐसा करना कई बार पागलपन तक समझा जा सकता है। शमशेर, निराला के सन्दर्भ में समझा भी गया है, लेकिन समय निर्मम होता है तो न्यायप्रिय भी होता है। अनुभव वैशिष्ट्य का देर से ही सही सम्मान हुआ। शमशेर इस संदर्भ में पूरी तरह सचेत थे- "उनका यही कहना भी है कि कविता मात्र अनुभूति की विशिष्टता में होगी। ...एक कवि के रूप में सच यही है कि वे परम स्वाधीन थे और मानते थे कि कला-कर्म औपचारिक बुद्धि-व्यापार नहीं है।"[1]

शब्द की कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है। शब्द-संघात अपना एक

निश्चित अर्थ रखते हैं। ये अर्थ एक परम्परा के भीतर से आते हैं। मनुष्य की किसी भी उपलब्धि में नितांत मौलिकता नाम की कोई चीज नहीं होती। रचनाकार जो भी रचता है उसमें एक विचार होता है और उसका एक निश्चित उद्देश्य होता है। अमूर्ततम कला भी एक निश्चित ध्येय लेकर बढ़ती है।

कई बार रचनाकार की पूर्व अर्जित चिंतनधारा अपने अनुभवों की साम्यता महसूस करता है। वह जो भी उद्घाटित-उद्घाषित करना चाह रहा होता है उसकी सूत्रात्मक प्रेरणाएँ पूर्व अर्जित चिंतन राशियों में

---

[1] अरुण कमल(सं.), आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, जनवरी- मार्च, पेज 10

मौजूद होती हैं । समय-प्रवाह में ये चिंतनराशियाँ अपनी एक तय संरचना को प्राप्त कर लेती हैं । चिंतनधारा की इन तय संरचनाओं के माध्यम से ही व्यक्ति और समाज की सभी समस्याओं की व्याख्या की जाने लगती है । विचार संघात जब इस स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं कि उससे व्यक्ति और समाज की व्याख्या की जाने लगे तो उसे विचारधारा की संज्ञा दी जा सकती है । विचारधारा अनिवार्यतः प्रत्येक समाज में उपस्थित रहती है, चाहे समाज में उसकी भूमिका ऋणात्मक हो या सकारात्मक ।

ऐतिहासिक रूप से विचारधारा मार्क्सवादी शब्दावली का हिस्सा है । विचारधारा के कोशगत अर्थ इस प्रकार हैं-

1. "विचारधारा – १. आधुनिक विज्ञान की वह शाखा जिसमें इस बात का विवेचन होता है कि मनुष्य के मन में विचार कहाँ से और किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और उनके कैसे-कैसे भेद या रूप होते हैं । वैचारिकी ।

२. विचारों का प्रवाह ।"[1]

2. "IDEOLOGY – १. वैचारिकी, मानसशास्त्र, विचार विज्ञान, भाव विज्ञान, विचारधारा, विचारपद्धति, सिद्धांत २. एक वर्ग अथवा व्यक्ति की विचारधारा, किसी आर्थिक अथवा राजनीतिक सिद्धांत के आधारभूत मूल"[2]

---

[1] वर्मा, रामचंद्र, वही, पेज. 53

[2] मिश्र, बलभद्रप्रकाश, वही, पेज. 678

“अंग्रेजी के आइडियोलॉजी (ideology) के लिए हिंदी में विचारधारा अथवा विचार प्रणाली शब्द प्रयुक्त होता है । विचारधारा विचारों और दृष्टिकोणों की ऐसी पद्धति है जिसके तहत लोग वास्तविकता तथा अपने पारस्परिक सम्बन्धों को पहचानने और सामाजिक समस्याओं और संघर्षों का मूल्यांकन करते हैं ।”[1] मनुष्य जन्मना पक्षधरता तय करने के लिए अभिशप्त है । उसका जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ उसके सामाजिक वातावरणिक कारक व अवयव तय करते हैं । मार्क्सवादी सैद्धांतिकी के अनुसार मनुष्य की चेतना का निर्धारक अर्थ है । अर्थ ही व्यक्ति की चेतना के स्वरूप की रचना करते हैं । मनुष्य-जीवन के अन्य उपांगों की व्याख्या अधिरचना के संदर्भ में करनी चाहिए ।

रामविलास शर्मा लिखते हैं- “कोई व्यक्ति अपने को क्या समझता है, कोई युग अपने को क्या समझता है, यह समझना विचारधारा है ।”[2] समझने की यह प्रक्रिया दोहरी होती है । एक तो व्यक्ति का समझना तमाम कारकों से संचालित होगा । व्यक्ति की समझ स्वतंत्र नहीं होती, नहीं हो सकती । दूसरी तरफ वह अपनी सांगठनिक प्रेरणाओं से एक तनाव का सम्बन्ध कायम करता है । अपनी सांगठनिक प्रेरणाओं की वैधता की भी जाँच करता चलता है । परन्तु यह एक बड़ी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक समस्या है कि प्रेरणाओं की वैधता की जाँच की प्रेरणा भी उसे वातावरणिक अवयवों से ही प्राप्त होगी फिर इसकी अनंत श्रृंखला बनेगी ।

---

[1] डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, पेज 328

[2] रामविलास शर्मा, पाश्चात्य दर्शन और सामजिक अन्तर्विरोध: थलेस से मार्क्स तक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 2001, पेज 282

वस्तुतः यह सत्य एक विशेष प्रकार के निश्चयवाद की तरफ संकेत करता है। व्यक्ति-रचना में प्रेरक उत्तरदायी तंतु ही उसकी चेतना का निर्माण कर देते हैं। उसकी विचार-प्रणाली या वैचारिकी समाज और अन्य कारक तय करते हैं। यह सत्य व्यक्ति की निरपेक्ष सत्ता का नकार है। व्यक्ति अपने समाज से बाहर है ही नहीं। अवबोध के संदर्भ में भी यही लागू होता है। यह कोई इत्तेफाक नहीं होता कि अभिनेता के वंशज अभिनय के क्षेत्र में आसानी से और बहुतायत आ जाते हैं, खिलाड़ी के वंशज खिलाड़ी बन जाते हैं। व्यक्ति के चारों तरफ प्रेरणाओं के तरंग सक्रिय होते हैं। वे तरंग व्यक्ति को अपनी प्रकृति में रँगने का गुण रखते हैं और प्रयास करते हैं। फ्रॉयड अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों में प्रतिपादित करते हैं कि बाल्यावस्था में चेतना-निर्माण के पश्चात व्यक्तित्व-परिवर्तन की कोई संभावना नहीं बची रह जाती। यह मनुष्य के लिए एक हद तक निराश कर देने वाला निष्कर्ष है। परन्तु परवर्ती मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों में कहा गया कि फ्रॉयड का यह सिद्धांत सत्य नहीं है। मनुष्य प्रकृततः भविष्योन्मुख होता है। व्यक्ति के मनोजगत का निर्माण अंत तक जारी रहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सम्वाद-विवाद है। मुख्य समस्या व्यक्ति के सामाजीकरण की है।

विचारधारा या विचारप्रणाली का निर्माण सामाजीकरण का हिस्सा है। विचारधारा व्यक्ति के अनुभवों-संवेदनों के आधार पर स्वयं और दुनिया के लिए व्यक्त की गयी प्रतिक्रिया-प्रतिसंवेदन का तरीका है। यह तरीका वह दूसरों से या दूसरों की परम्परा से भी प्राप्त कर सकता है और

स्वयं भी शोध कर सकता है । जब वह दूसरों से प्राप्त करता है तो अपने जीवनानुभों, संवेदना-संस्कारों के मानकों पर उसका परीक्षण करता है । यदि परीक्षण में उन तरीकों को सफल पाता है तो स्वीकार कर लेता है । यदि सभी पूर्वजन्य तरीके उसे अपर्याप्त प्रतीत होते हैं तब वह अपनी विचारप्रणाली निर्मित करता है । प्रायः व्यक्ति परम्परा से ही स्वीकार करता है परन्तु जब अनुभव विशिष्ट होता है तो विचार का तरीका भी नया होता है ।

यह एक पुराना विचार-विषय रहा है कि साहित्य और विचारधारा का क्या सम्बन्ध हो । एक पक्ष कला की स्वतंत्रता-स्वायत्तता के तर्क से साहित्य में हस्तक्षेप को नकारता है । दूसरा पक्ष विचारधारा के अभाव में साहित्य की सामाजिक भूमिका को प्रश्नांकित करता है । तीसरे पक्ष में साहित्य में विचारधारा की उपस्थिति के स्वरूप के संदर्भ में विवाद-संवाद है । इन तीनों पक्षों के रहते-न-रहते बहुत-से ऐसे साहित्य की रचना हुई जिसमें विचारधारा पृष्ठ या पार्श्व में काम कर रही थी और वे रचनात्मक ऊँचाइयों को भी प्राप्त हुए । बहुत-सा ऐसा साहित्य भी महान साहित्य की कोटि में आया जिनमें विचारधारा की घोषित छाया नामौजूद थी । इससे एक तथ्य सामने आता है कि साहित्य-रचना की महानता और क्षुद्रता इस बात से तय नहीं हो सकती कि उसमें विचारधारात्मक प्रतिबद्धता है या नहीं । महानता-क्षुद्रता विचारधारा से निरपेक्ष है । विचारधारा का प्रश्न रचना और रचनाकार से जुड़ा है ; वह इस बात से जुड़ा है कि रचनाकर अपनी रचना से कैसा काम लेना चाहता है । इस संदर्भ में बौद्धिकों-

रचनकारों में दो मत रहे हैं । एक, जो वस्तुजगत को सत्य मानता है और उसी की अभिव्यक्ति को कला-साहित्य का ध्येय स्वीकार करता है । दूसरा, जो बाह्यजगत के अस्तित्व को अस्वीकार कर मनोजगत की गतियों को सत्य मानता है । यह आत्मनिष्ठता का पक्ष है जिसके अनुसार सत्य मनुष्य के बाहर नहीं है । इसे भाववादी दर्शन भी कहा जाता है । यह भी एक विचारधार ही है जिसमें व्यक्ति को केंद्र में रखकर सृष्टि की व्याख्या की जाती है । वैज्ञानिक भौतिकवाद, जो यथार्थवाद का ही संवर्धित रूप है, भाववाद की धुर विरोधी विचारधारा है । समस्त विश्व-मनीषा समकाल में अमूमन इन्हीं दो विचारधाराओं को आधार बनाकर संसार की गतियों की समीक्षा कर रही है । "भाववादी और भौतिकवादी दर्शनों के परस्पर विरोध के समान विश्व-साहित्य में आज दो प्रवृत्तियों का परस्पर भेद और संघर्ष बढ़ रहा है । उनमें एक है यथार्थवाद की धारा जो ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में भौतिकवादी दर्शन को अपनाती है; दूसरी है व्यक्तिवादी धारा जो नाना रूप और नाना नाम धारण करके प्रकट है- कहीं आब्सट्रैक्ट आर्ट, कहीं सुर्रियलिज्म, कहीं प्रयोगवाद- जिसका सम्बन्ध प्रच्छन्न या परोक्ष रूप से भाववाद से होता है ।"[1]

वस्तु और रूप का द्वंद भी विचारधारा से जुड़ा है । भौतिकवादी वस्तुगत सत्ता को किसी भी अन्य काव्य-तत्व से अधिक महत्व देते हैं । परन्तु इनकी पद्धति में रचनाकार की स्वतंत्रता का प्रश्न उठता है । रचनाकर इस संदर्भ में पूर्णतया स्वतंत्र नहीं है कि वह वस्तु के बारे में

---

[1] रामविलास शर्मा, आस्था और सौन्दर्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तीसरी आवृत्ति, 2015, पेज 17

अपना मंतव्य और दृष्टि रचना में प्रकट कर सके। यद्यपि यह फोटोग्राफिक चित्रण नहीं है। वहीं भाववादी वस्तु की सत्ता की निरपेक्षता से सिक्त होता है। आत्म प्रवृत्तियों का प्रक्षेपण ही ऐसी रचना को जन्म देता है। यह विडम्बनात्मक है कि प्रत्येक आत्म का एक सामजिक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य होता है। गहरे अर्थों में किसी भी सामाजिक का आत्म संभव नहीं है। प्रत्येक आत्म समाज से ही संस्कारित होगा। अतः जिस तरह आत्म और समाज सर्वथा भिन्न नहीं हैं उसी तरह वस्तु और रूप भी नहीं हैं। विचारधारा प्रथमतः तय करती है कि वस्तु क्या है और वस्तु की अभिव्यक्ति का लक्ष्य क्या है, तत्पश्चात वस्तु और अभिव्यक्ति-ध्येय मिलकर रचना के रूप का निर्माण करते हैं। रूपवादी यदि इस ध्येय के साथ रचना करते हैं कि अजनबियत उत्पन्न किया जा सके और दृश्यों को इस तरह से प्रस्तुत किया जा सके कि सतत जमती गयी परिचयजन्य ऊब को निर्वासित किया जा सके तो वे भाषा के साथ नया प्रयोग करेंगे ही! क्योंकि वे विकल्पहीन हैं। सागर को हजार बार सागर की तरह ही अभिव्यक्त किया जा चुका है। वे वस्तु में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, अतः वस्तु को प्रस्तुत करने की शैली में परिवर्तन करेंगे। इसके बरक्स मार्क्सवादी साहित्यिक कलात्मक ध्येय के अनुसार कोई मार्क्सवादी रचनाकार वस्तु की ऐसी अभिव्यक्ति करेगा जिससे पाठक को वर्ग-संघर्ष के लिए तैयार कर सके। यथार्थवादी साहित्यिक चेतना पर यह भी आरोप लगता रहा कि उनकी दृष्टि दोष-निरूपक है। "ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के अनुसार यथार्थवादी लेखक वह है जो सुंदर वस्तुओं पर लिखना पसंद नहीं करता वरन उनके बदले गन्दी घिनौनी चीजों का ही

वर्णन करता है, वह टाइप के बदले व्यक्तियों का चित्रण करता है और यथातथ्य चित्रण में विश्वास करता है ।"[1] मार्क्सवाद यथार्थवाद के निकट की साहित्यिक चेतना है । यथार्थवाद प्रायः अभावों, रिक्तताओं, दुखों, और दुखमूलों को ही अपना विषय बनाता है ताकि मनुष्य की इन्द्रियाँ इनके प्रति अधिक संवेदित हो सकें और मनुष्यतर बन सकें ।

साहित्य में विचारधारा की उपस्थिति का तात्पर्य यह नहीं है कि रचना विचारधारा का रचनात्मक अनुवाद जान पड़े । "यह सही है कि मार्क्स और मार्क्सवाद के व्याख्याताओं ने साहित्य एवं कला को सामाजिक जीवन के पुनर्निर्माण में विचारों की सम्पूर्ण तीक्ष्णता तथा खरेपन के साथ सक्रिय होने को कहा गया है, परन्तु इस क्रम में एक क्षण के लिए भी आशय यह नहीं रहा है कि गहरी मानवीय संवेदनाओं को अस्वीकार कर, इस सब से कतई निरपेक्ष, कोरे विचार के धरातल पर इस कार्य को सम्पादित करे ।"[2] वस्तुतः यह प्रश्न ही मनोवैज्ञानिक है । विचार या भाव के बनने की प्रक्रिया और परस्पर प्रभाव के विज्ञान को समझने पर ही साहित्य-कला में विचार और भाव को समझा जा सकता है । भावनाओं के कारकों में मुख्य है- इन्द्रियबोध । चूँकि मनुष्य एक मनोशारीरिक संरचना है, तो उसके निर्माण में जैविक और सामजिक तंतुओं का बराबर योगदान होता है । जैविक कारक मनुष्य की चेतना के लिए कितने प्रतिशत उत्तरदायी हैं - यह शोध व विवाद का विषय है । परन्तु जैविक कारक मनुष्य-चेतना में पर्याप्त हस्तक्षेप करते हैं- इस पर सर्वसम्मति है । यह एक सीमा तक निराश कर

---

[1] रामविलास शर्मा, आस्था और सौन्दर्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तीसरी आवृत्ति, 2015, पेज 19

[2] शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिंतन: इतिहास तथा सिद्धांत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पेज 302

देने वाला सत्य है । मनुष्य अपने परिवेश से इन्द्रियों के माध्यम से जो ग्रहण करता है वह भी चेतना-निर्माण का प्रभावी कारक होता है । इन्द्रियों की तीक्ष्णता सम्भवतः जैविक हो परन्तु वह जो ग्रहण करेगा वह परिवेशगत ही होता है । अतः विचार-निर्माण या विचाधारा-निर्माण में उन भावों-संवेदनाओं की भी भूमिका होगी जो इन्द्रियबोध ने तैयार किया है । यह क्रिया दोनों तरफ से चलती है । भाव और विचार परस्पर प्रभावित, संवर्धित और संक्रमित करते चलते हैं । रामचन्द्र शुक्ल भी अपने चर्चित निबन्ध 'कविता क्या है' में लिखते हैं कि ज्ञानप्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता है । यह सत्य है, पर अधूरा । ज्ञानप्रसार और भावप्रसार कोई भिन्न तात्विक संक्रिया नहीं हैं । यह दोनों साथ-साथ सम्पादित होती है । इसे उदाहरण से समझा जा सकता है- मान लें कोई बालक अपनी माँ को अपने पिता द्वारा प्रताड़ित होते हुए देखता है । इन्द्रियाँ इस सूचना को उस तक पहुँचायेंगी । उसे दुःख होगा । उसे दुःख होगा- यह निश्चित तौर पर कहा नहीं जा सकता । परन्तु यहाँ हम मानेंगे कि उस बालक का सोशियोलाइजेशन नहीं हुआ है और इस भाव का यह पहला संस्करण है । तब यह तय है कि बालक को पिता की प्रताड़ना से दुःख होगा । यह भावप्रसार की संक्रिया है । यह भाव बालक के विचार-निर्माण का आधार बनेगा । जब विचार बनकर तैयार होगा तब उसका रूप ऐसा हो सकता है- पिता प्रायः वर्चस्वप्रिय होते हैं । वे कई स्तरों पर शोषक होते हैं । एक पति का यह रूप समाज में कतई स्वीकार नहीं होना चाहिए । माँ को प्रतिरोध करना चाहिए । उनका चुप रहना ऐतिहासिक रूप से गलत हो

सकता है । इत्यादि । यदि साहित्य में कहीं वैचारिकी मुखर होती है तब भी परोक्षतः उसमें भाव-तत्व मौजूद रहता है ।

हिंदी साहित्य में अवबोध की परिघटना कहीं नहीं दिखाई देती, सिवाय 'शमशेर बहादुर सिंह' के । यह आश्चर्यदायी है कि हिंदी की अबतक की काव्य-परम्परा में किसी भी कवि के काव्य-संसार में अवबोध परिघटित नहीं हुआ । इसका एक कारण यह रहा कि हिंदी काव्य-शास्त्र में और हिंदी समाज में प्रयोजनियता और प्रासंगिकता का घोषित-अघोषित दबाव हमेशा ही मौजूद रहा है । काव्य हेतु में प्रायः प्रत्यक्ष उद्देश्य ही बताये गये । संस्कृत के किसी आचार्य ने यह नहीं कहा कि कला अपनी दृष्टि से सृष्टिगत वस्तुओं को पुनर्सृजित करने का नाम है । पूरी संस्कृत-हिंदी काव्यशास्त्र परम्परा में काव्य हेतु में गिनाये गये प्रत्येक कारण पाठक को महत्व देते हैं । यदि रचनाकर स्वयं के लिए भी धनोपार्जन करना चाहे तो उसे पाठक के मनोतंत्र को ध्यान में रख्रना होगा और उसकी अपेक्षाओं पर खरा उतरना होगा । अवबोध की परिघटना व्यक्ति-सत्ता के सम्मान से भी जुड़ी है । कोई व्यक्ति किसी वस्तु, दृश्य, ध्वनि, गंध, स्वाद इत्यादि के बारे में क्या सोचता है और उसे वह कैसे प्रकट करता है- इसके लिए व्यक्ति को मानव-सभ्यता के केंद्र में आना होगा । मध्यकालीन युग में, जब धर्म सत्ता समूची मानव-सभ्यता के केंद्र में थी,तब ऐसी कल्पना भी संभव नहीं थी । आदिसभ्यता में भी राजसत्ता के सम्मुख मनुष्य की कोई हैसियत नहीं थी । आधुनिकता ने ऐसी जमीन तैयार की है जहाँ व्यक्ति अपनी मौलिकता के साथ स्वयं को प्रकट कर सकता है और क्षमता हो तो केंद्र भी बन सकता

है । आधुनिक युग में भी हिंदी आलोचना की काव्य-दृष्टि इतनी क्रान्तिकारी नहीं हो सकी कि शमशेर का मूल्यांकन अवबोध की परिघटना के रूप में प्रस्तुत कर सके । इस दृष्टि से हिंदी साहित्य में मात्र रमण प्रसाद सिन्हा ने विचार किया है ।

शमशेर की कविताओं में शुद्ध अवबोध की कई छवियाँ हैं । उनपर विस्तृत शोध-चर्चा अध्याय दो में की जाएगी । यहाँ एक उदहारण से अवबोध की हिंदी कविता में उपस्थिति चिह्नित की जा सकती है-

धूप कोठरी के आईने में खड़ी
हँस रही है

पारदर्शी धूप के पर्दे
मुस्कराते
मौन आँगन में
मोम-सा पीला
बहुत कोमल नभ

एक मधुमक्खी हिलाकर फूल को

बहुत नन्हा फूल

उड़ गई

आज बचपन का

उदास मा का मुख

याद आता है ।

-(धूप कोठरी के आईने में खड़ी, प्रतिनिधि कविताएँ)

नामवर सिंह के अनुसार "हिंदी में हमारे सबसे बड़े कवि तुलसीदास से बढ़कर विचारधारा से प्रतिबद्ध दूसरा आदमी नही है । कोई प्रसंग आ जाये, बाबा निर्गुण का खंडन करता है और सगुण का समर्थन करता है और इसके लिए कबीर को भी दो हाथ लगाये जाएँ ।"[1] नामवर सिंह विचारधारा का जो अर्थ कर रहे हैं, वह सटीक है । प्रत्येक संदर्भ में विचारधारा का यही अर्थ होना चाहिए । भारतीय परम्परा में दर्शन के सभी रूप वस्तुतः विचारधारा के रूप हैं । इस तरह से हिंदी साहित्य में विचारधारा की उपस्थिति आरम्भ से से ही मौजूद है । बौद्धों, नाथों, सिद्धों की रचनाएँ एक विचारधारा के अंतर्गत ही सृजित हैं । उन सभी रचनाकारों के पास जीवन की व्याख्या के लिए अपना भिन्न-भिन्न सूत्र था । उनकी कविताएँ उन सूत्रों की अवहेलना नहीं करतीं । भक्तिकाल में

[1] सिंह, नामवर,(सं. आशीष त्रिपाठी), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012 ई., पेज. 20

निर्गुण-सगुण का सारा विवाद, तनाव विचारधारा का ही विवाद-तनाव है । रीतिकल के कवि प्रायः सत्ताजीवी थे; ऐसे में उनकी मौलिक अभिव्यक्तियाँ अधिकांशतः अप्रकट ही रहीं । आधुनिक काल में विचारधाराओं की घोषित रचनाएँ सहज ही दिखती हैं।

अवबोध की परिघटना हिंदी कविता में मात्र शमशेर बहदुर सिंह की कविताओं में परिघटित होती है। अन्य कवियों में भी अनुभव का वैशिष्ट्य है परन्तु वे दबाओं में आकर बिम्ब का रूप दे देते हैं या उसका सामान्यीकरण कर सम्प्रेषणीय होने का सुख पा लेते हैं।

विचाधारा साहित्य में स्वतःस्फूर्त ढंग से मौजूद रहती है । यह रचनाकार के सामने विकल्प के रूप में नहीं आती। रचनाकर विचारधारा से सर्वथा निरपेक्ष नहीं हो सकता । वह विचारधारात्मक अभिव्यक्ति के लिए अभिशप्त है।

द्वितीय अध्याय

शमशेर बहादुर सिंह: रचना-प्रक्रिया, रचना-मूल्य, प्रतिनिधि स्वर और विचारधारात्मक प्रतिबद्धता

शमशेर मार्क्सवादी हैं, रूपवादी हैं, बिम्बवादी हैं, अतियथार्थवादी हैं, अभिव्यक्तिवादी हैं, प्रभाववादी हैं, प्रतीकवादी हैं, प्रयोगवादी हैं, सौन्दर्यवादी हैं, रहस्यवादी हैं, और आरम्भ में छायावादी भी हैं। ये सभी लेबल हिंदी आलोचना ने शमशेर पर आरोपित किया और कुछ शमशेर ने स्वयं स्वीकार किया। दिलचस्प यह जानना है कि इन वाद-समूहों के बाहर भी शमशेर की कुछ जमीन अछूती रह जाती है या इन कृत्रिम हथियारों से आलोचक शमशेर का रेशा-रेशा- उघाड़ चुके हैं। यदि अनछुए शमशेर को हम पाना चाहें तो ये उपलब्ध साहित्यिक-आलोचनात्मक उपकरण कुछ मदद करेंगे या नहीं। साथ ही इन प्रचलित उपकरणों से हम किसी विशिष्ट शमशेर को शोध पायेंगे भी या नहीं, यह परखना भी दिलचस्प होगा।

शमशेर आपेक्षिक रूप से कम चर्चित कवि रहे। इसका एक कारण उनका स्वयं का संकोच भी है, परन्तु प्रमुख कारण हिंदी आलोचना की तंगदिली रही है। हिंदी आलोचना में वह, जो सीधे-सीधे 'इधर' का नहीं है या सीधे-सीधे 'उधर' का नहीं है, उसकी विद्रूपात्मक स्थिति यह होती है कि वह किधर का भी नहीं होता। शमशेर इसी अप्रिय विडम्बना के शिकार कवि हैं। परन्तु उनकी प्रभावशीलता इतनी प्रचंड है और अभिव्यक्ति इतनी खरी है कि हिंदी कविता का कोई भी आस्वादक उनसे बचकर नहीं निकल सकता। यूँ तो प्रत्येक रचनाकर रचनाधर्मिता के स्तर पर विशिष्ट होता है, अलग होता है परन्तु शमशेर सभी परम्परित अभिव्यक्ति शैली का निषेध करते हैं और एक ऐसी शैली का सृजन करते हैं

जिसमें परम्परा और प्रयोग की अद्भुत किमियागिरी है। न सिर्फ भाषा के स्तर पर, अभिव्यक्ति के स्तर पर भी वे भारत की उस मुकम्मल संस्कृति के तरफदार बनकर आते हैं जिसे हमारे पुरखों ने बेहद संजीदगी और संयम के साथ गढ़ा था।

शमशेर अपनी रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में अपने कई साक्षात्कार में और अन्य जगहों पर भी, संकेत करते हैं। या कहना चाहिए कि लोगों की प्राथमिक जिज्ञासा, जो शमशेर को लेकर होती है या हुई है, वह रचना-प्रक्रिया ही है। जैसे शमशेर का तथाकथित अन्तर्विरोध चर्चित रहा, वैसे ही उनकी रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में भी विरोधी बातें प्रचलित हैं। इस विरोधी सत्य का प्रमुख कारण स्वयं शमशेर हैं। उन्होंने आप ही कई तरह से चीजों को पकड़ने और प्रस्तुत करने के तरीकों को बताया है। वस्तु को कविता में पकड़ने का जो शमशेर का मौलिक तरीका है, वह अवबोधात्मक और प्रभाववादी है। एक साक्षात्कार में उन्होंने जिक्र किया - “कविता मेरे सामने एक फ़्लैश की तरह आती है, एकदम ‘फ़ोर्स’ के साथ। और अगर दो मिनट के लिए भी चूक जाता हूँ, तो...तो its gone. Gone for good. Just gone for good…फिर वह कभी आती ही नहीं। जैसे बिजली होती है न। बस, पूरे फ़ोर्स के साथ चमकती है। उसमें गर्जन भी होता है, पर बस क्षणिक ही। बाद में कुछ नहीं।”[1] अपनी पूर्वधारणाओं और पूर्वज्ञान की अनदेखी कर शमशेर बाह्यजगत की व्याख्या अंतर्जगत की छाया में करते हैं। उनकी बहुत सी कविताओं का सच यही है कि इन्द्रियाँ पहले बाहरी

[1] अरगड़े, डॉ. रंजना, कवियों के कवि शमशेर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1988, 1998, पेज 205

दुनिया में व्यस्त होती हैं तत्पश्चात उसी बाह्य संसार की लीलाओं का आक्षेपण आत्मजगत की गहरी दशाओं में किया जाता है । 'एक नीला दरिया बरस रहा', 'सूर्यास्त' ,'गोया वो' जैसी कविताओं में इस प्रक्रिया को लक्षित किया जा सकता है । शमशेर कई दफ़ा कहते हैं कि सौन्दर्य उनके सामने एक कम्पोजिशन के रूप में आता है । यानी पूरी कविता बनी बनाई प्रकट होती है- भाषा को लिए हुए । 'दोपहर बाद की धूप छाँव में खड़ी इंतजार की ठेलेगाड़ियाँ/जैसे मेरी पसलियाँ..../खाली बोरे सूजों से रफू किये जा रहे हैं....जो/मेरी आँखों का सूनापन है' जैसी पंक्तियाँ श्रम-प्रसूत नहीं हैं । ये स्वतःस्फूर्त ढंग से कवि की चेतना पर डेरा डालती हैं । शमशेर अन्यत्र भी कहते हैं-"वास्तव में आपको सच बताता हूँ कि पहली पंक्ति लिखने तक शायद मुझे इसका आभास भी नहीं होता कि मैं कोई कविता लिखने जा रहा हूँ ।"[1] यह सायासहीनता का प्रमाण है । शमशेर की रचना-प्रक्रिया का दूसरा पक्ष पहले से भिन्न ही नहीं, गुणात्मक दृष्टि से निपट उल्टा ठहरता है । उनकी सामाजिक-राजनीतिक-वैचारिक कविताओं की रचना-प्रक्रिया अभ्यास की है । वहाँ शमशेर बहुत ही सचेत रहते हैं और अपने ही तय किये मानकों का उलंघन करने से बचते हैं । अपनी डायरी में शमशेर ने स्वयं को अनुशासित करने के लिए कविता के रूप को निर्धारित करते हुए लिखा है-

"1. कोई समास न हो ।

[1] अग्रवाल, महावीर(स.), शमशेर:कवि से बड़े आदमी, श्री प्रकाशन, मध्य प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1994, पेज 351

2. जिसको समझ लें, एकदम, आसानी से, आँख पड़ते ही ।

3. जो पढ़कर भुलाया न जा सके ।

4. जिसे कोई भी पढ़े बगैर न रहे ।

5. जो एक बार पढ़ने पर ही याद हो जाये ।

6. जिसको पढ़कर कहें, कि बात सोलहों आने खरी हैं ।

7. जो हर बार पढ़ने पर ताजा लगे ।

8. जो एक अपढ़ तक भी पहुँच जाये जल्दी ।

9. जो विदेशियों को भी झुमा दे ।

10. जो समय को आगे बढ़ाये यानी आदमी को बड़ा भी बनाये- चाहे जिस तरह ।

11. जिसको बार-बार पढने-याद करने की हर आदमी की इच्छा हो ।"[1]

शमशेर के ये मानक उनकी रचना-प्रक्रिया के महत्व-क्रम को समझने में बहुत सहायता करते हैं, जिनको साजिशन नजरंदाज किया गया । इन मानकों पर उनकी कविता का मूल्यांकन करके ही हम समझ सकते हैं कि शमशेर का असली स्वर कौन-सा है और किसे वे अपना असली स्वर बनाना चाहते थे । इस तरह की कविताओं में 'चीन', 'अमन का राग',

[1] मलयज(स.), शमशेर बहादुर सिंह की कुछ गद्य रचनाएँ, संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण, 1981, पेज 294

‘सूर्यअपोलो स्तुति’, ‘वाम-वाम दिशा’, ‘लेकर सीधा नारा’ इत्यादि की गणना की जा सकती है ।

‘शमशेर’ जो थे और जो होना चाहते थे, उसके बीच एक तनाव का नाम है । वे क्लासिक थे और जनधर्मी बनना चाहते थे, वे आत्मस्थ थे और वस्तुगत होना चाहते थे, वे विशिष्ट थे पर सरल (साधारण नहीं) दिखना चाहते थे । मुक्तिबोध इस सत्य की पहचान दूसरे शब्दों में करते हैं- “इस मौलिक विशेष के दो आयाम हैं- एक, मनोरचना, अर्थात आत्मा का भूगोल, और दूसरे, मनस्तत्व अर्थात आत्मा का इतिहास।”[1]

शमशेर की रचना-प्रक्रिया का तीसरा पक्ष वह है जो विशेष केन्द्रित होता है । यह विशेष व्यक्ति भी होता है, चित्र भी होता है , संगीत भी होता है और स्मृति भी होती है । यह सर्वज्ञात है कि हिंदी में शमशेर ने ही सर्वाधिक व्यक्ति केन्द्रित कविताएँ रची हैं । उनकी संख्या इतनी है कि एक संग्रह तैयार किया जा सके । इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी । यहाँ मात्र उस तरह की कविताओं की रचना-प्रक्रिया को समझने का प्रयास है । वैसी कविताओं में शमशेर उस विशेष का स्वयं पर पड़ने वाले प्रभाव को एक क्षिप्रता में रखते हैं । सिर्फ निराला पर लिखी कविता, ‘सूर्यअपोलो स्तुति’, ही प्रदीर्घ है और उसमें प्रयासजन्य कृत्रिमता आ गयी है । उसका कारण निराला की सामासिक शैली की नकल करना है ।

सर्वज्ञात है कि शमशेर कवि होने से पहले चित्रकार थे । यह संस्कार उन्हें अपने मामा से प्राप्त हुआ था । दिल्ली पहुँचकर वे उकील बंधुओं से

---

[1] सिंह, मुरलीमनोहर प्रसाद, चंचल चौहान(सं.), नया पथ, नयी दिल्ली, जुलाई- सितम्बर, 2011, पेज 41

विधिवत चित्रकला का प्रशिक्षण लिए थे । इन्हीं दिनों दिल्ली में शमशेर ने साइनबोर्ड की पेंटिंग का काम भी किया । उनका चित्रकार कोई शौकिया नहीं है जो मात्र माध्यम का स्वाद चखना चाहता है; वे चित्रकला में उसी तरह इन्वाल्व थे जैसे कविता में । उनके अंतिम दिनों में उनके चित्रों के संयोजन का काम करने वाले रमण सिन्हा और रंजना अरगड़े में-से रमण सिन्हा लिखते हैं- "यूँ तो हिंदी में महादेवी वर्मा से लेकर जगदीश गुप्त व तेजी ग्रोवर तक चित्रकार लेखक की एक परम्परा-सी रही है लेकिन शमशेर इन सबों से इस मामले में अलग हैं कि चित्रकला से इनका सम्बन्ध शौकिया न होकर पेशेवर किस्म का रहा है- न सिर्फ उन्होंने अपने जमाने के एक पेशेवर स्कूल से चित्रकला का प्रशिक्षण प्राप्त किया बल्कि उनका चित्र-संसार अपने समय के कला परिदृश्य से संवाद करता दिखायी देता है । इसलिए इनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि ये मूलतः कवि हैं जिन्होंने कुछ चित्र भी बनाये और न इनके चित्रों को इनकी कविता का क्षेपक मानते हुए काव्यनुमा प्रतिमानों से इसकी व्याख्या या मूल्यांकन संभव है ।"[1] शमशेर ने पेंटिंग से अधिक रेखांकन बनाया । पेंटिंग आर्थिक रूप से महँगा माध्यम है । शमशेर की स्थिति यह नहीं थी कि उसमें प्रयुक्त रंग, कागज खरीद सकें । उनके शुरूआती चित्रों में बंगाल-स्कूल का प्रभाव है पर, विशेष बात यह है कि उन्होंने मिथकों पर एक भी चित्र नहीं बनाया, जबकि उस समय बंगाल चित्रकला की परम्परा में मिथकों का बोलबाला था । शमशेर ने व्यक्ति चित्र कई बनाये । नरेश मेहता,

[1] सिन्हा, रमण, शमशेर का संसार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पेज.11

उपेन्द्रनाथ अश्क, भैरव प्रसाद गुप्त, प्रेमलता वर्मा इत्यादि के व्यक्ति चित्र मिलते हैं । शमशेर के बनाए आत्म-चित्रों की संख्या भी दहाई में हैं । प्रभाववादी और अतियथार्थवादी चित्रों के अतिरिक्त अमूर्त चित्रों को चित्रकार शमशेर की मूल अभिव्यक्ति मानी जानी चाहिए ।

शमशेर की भाषा के संदर्भ में जो विवाद हिंदी आलोचना में दिखाई देता है, वह उनकी कविता के विवाद से अभिन्नतः जुड़ा हुआ है । शमशेर की भाषा तीन प्रेरणाओं से संकारित हुई है । पहला संस्कार उर्दू कविता का है जो उन्हें अपने मामा और नाना की तरफ से मिला था । दूसरा संस्कार भी ननिहाल से ही मिला था, वह अंग्रेजी कविता का था । तीसरा संस्कार छायावाद से आया जिसमें पन्त का प्रभाव मुखर है । उर्दू कविता से उन्होंने शब्द अधिक नहीं लिए; लिए भी तो ग़ज़लों में ही उनका इस्तेमाल किया । हिंदी कविता में भी उर्दू शब्दों की छींट कहीं-कहीं देखने को मिलती है । उर्दू कविता से शमशेर ने वाक्य-विन्यास ग्रहण किया । एक उदाहरन देखें- 'प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे' । 'उषा' कविता की ये पंक्ति ग़ज़ल के मिसरा-ए-उला की शक्ल में है । इसका विन्यास शेर का है । विन्यास के अतिरिक्त शब्दों के प्रयोग और पंक्तियों में उनके स्थान भी उर्दू के प्रबल संस्कार की घोषणा करते हैं । हिंदी की संरचना में शमशेर की एक ऐसी भी भाषा है-

मुझको मिलते हैं अदीब और कलाकार बहुत

लेकिन इन्सान के दर्शन हैं मुहाल।

दर्द की एक तड़प-

हलके-से दर्द की एक तड़प

सच्ची तड़प

मैंने अगलों के यहाँ देखी है; -

या तो वह आज ख़ामोश तबस्सुम में ज़लील

या वो है कफ़-आलूद ;

या वो दहशत का पता देती है ;

या हिरासाँ हैं ;

या फिर इस दौर के ख़ाको-खूं में

गुमगश्ता है ।

-(मुझको मिलते हैं अदीब और कलाकार बहुत, चुका भी हूँ नहीं मैं)

इस कविता की भाषा में सिर्फ एक शब्द, 'दर्शन' ही हिंदी का है । यद्दपि यह बँटवारा देश की सामासिक संस्कृति का मजाक है पर यही आज का सच है । शमशेर इस दुखद सच से परिचित थे इसीलिए हिंदी को "संकीर्ण

और साम्प्रदायिक वातावरण"[4] का हिस्सा माना । इस कविता का विन्यास भी उर्दू शायरी का है । शमशेर की शुरूआती कविताओं की भाषा छायावाद की भाषा से प्रभावित है । उदिता की अधिकांश कविताएँ उस प्रभाव की प्रमाण हैं । बाद के संग्रहों में शमशेर अपनी भाषा अर्जित करते चले गये हैं जिसकी आत्मा उर्दू की है । शमशेर की भाषा को हिंदी कविता में एक उपलब्धि की तरह देखा जाना चाहिए जिसमें देश की भाषाई आत्मा का निचोड़ मौजूद है । वे काव्यरूप के अनुकूल भाषा का चुनाव करते हैं । ग़ज़लों के लिए पारम्परिक उर्दू, कुछ गीतों के लिए बिलकुल बोलियों के खालिश देशी शब्द और हिंदी कविताओं में उर्दू विन्यास लिए खड़ी बोली जिसमें उर्दू के शब्द भी पर्याप्त स्थान बनाते हैं ।

शमशेर शिल्प के स्तर पर प्रयोग नहीं करते पर उनकी पूरी रचनाधर्मिता हिंदी कविता के लिए एक प्रयोग है । वे शब्दों के सन्दर्भ में सचेत हैं इसलिए मितव्ययी भी हैं । उनकी कविता में भर्ती के शब्द मुश्किल से मिलते हैं । शमशेर ने स्वयं कहा है कि कविता उनके पास भाषा के साथ आती है, भाषा को लिए हुए । इसका अर्थ है कि शमशेर की कविता भाषा के बाहर है ही नहीं । उनकी कविता हिंदी की वह इकलौती कविता है जिसमें स्पेसिंग का अर्थपूर्ण प्रयोग किया गया है । काव्यपंक्तियों के आरम्भ स्थान और शब्दों के अन्तराल से शमशेर कविता का एक स्थापत्य गढ़ते नजर आते हैं । उसे समझ सकना तब तक मुश्किल है जबतक कवि स्वयं उस सन्दर्भ में कोई संकेत नहीं देता । शमशेर इस सत्य से स्वयं परिचित थे कि स्पेसिंग को समझना आसान नहीं है । अपने तीसरे

कविता संग्रह के प्रकाशन के बाद शमशेर अपनी डायरी में स्वयं को संबोधित करते हुए कहते हैं- “बड़े आये हैं । ठीक ही हुआ । स्रब करके बैठा दिए गये, अच्छी तरह, ठोंककर । कवर-डिजाइन ? लो ! सिनेमा-जैसा इश्तिहार ! स्टैजा की complex तरतीब, मिसरों के खिसकते सरकते जोड़-बंद, बड़ी चुस्ती के साथ मुख्तलिफ आदंग के खुले या मंद, गहरे ता हलके टेप ? लो अब सब गड्-मड् कर दिया कम्पोजीटर ने, और कोई उसे समझ के ठीक करने वाला भी नहीं वक्त पर... । यहाँ तक कि खुद मुन्तसिफ को यानी शायर को यानी मुझे उधर देखते ऊब होती है । और लो । जहाँ स्पेस चाहिए था वहाँ लफ्ज और मिस्रते खूब सैट गये है और... यकायक, जहाँ बात सिलसिले से जुड़ी हुई चली जा रही है मिसरों में, वहाँ बिला वजह, यकायक बड़ा सा स्पेस फैला हुआ है । यकायक किले की दीवार टूटी पड़ी है और एक दरिया सा बीच में (जिसे हम पहले नहीं जानते थे) आ गया है: एक नई बाढ़ के रेले की तरह । लो और लोगे आर्ट ?”[1] शमशेर उस स्पेसिंग से एक किला बनाने की कोशिश कर रहे हैं । यह स्वयं में कितना दुर्बोध है । पर दुर्बोधता का आरोप लगाकर हम उनकी कविता का मूल्यांकन स्पेसिंग के अभाव में नहीं कर सकते। स्पेसिंग के औचित्य को इस कविता में लक्षित किया जा सकता है-

सर्वोच्च लहर

आकाशगंगा में

आकाशगंगा में

[1] शर्मा, बृजनारायण, हरि भटनागर(सं.), रचना समय, भोपाल, 2010 मई-जून, पेज 85

विसर्जित

एक   दीया।

-(विसर्जित एक दीया, कहीं बहुत दूर से सुन रहा हूँ)

कविता की पहली पंक्ति में सर्वोच्चता का भाव पूरी तरह से, अधिक गहरे रूप में आ जाये इसलिए 'सर्वोच्च लहर' को कोने में बायीं तरफ अकेला छोड़ा गया है। कविता के स्थापत्य को सम्पूर्णता में देखने पर भी 'सर्वोच्च लहर' सबसे ऊँची जगह पर है। 'सर्वोच्च लहर' सिर्फ शब्द न होकर स्वयं एक लहर का रूप धारित कर रहा है। दूसरी पंक्ति में 'आकाशगंगा में' पहली पंक्ति के ठीक नीचे न आकर पीछे की तरफ रखा गया है, जिससे सूचना की स्पष्टता अधिक संप्रेषित हो सके। इस पद का यह स्थान आकाशगंगा को लहर के सापेक्ष गौणता भी प्रदान कर रहा है। परन्तु तीसरी पंक्ति में 'आकाशगंगा' सम्पूर्ण इकाई बनकर सामने आता है। अब 'आकाशगंगा' लहर जितना महत्व प्राप्त करता है। चौथी पंक्ति सिर्फ एक शब्द से संरचित है; इसका जादू अर्थ के घनत्व में है। विसर्जन ही इस कविता का नाभि-भाव है। आखिरी पंक्ति में 'एक' के बाद अन्तराल की योजना दीये के अकेलेपन को उभार रहा है। अकेला होना बहुधा विशिष्ट होना भी होता है। यह शाब्दिक अन्तराल दीये के वैशिष्ट्य के लिए भी सिरजा गया है।

शमशेर की कविताओं के स्वर बहुवचन में हैं। किसी एक काव्य-मूल्य से उनकी रचना का सच जानने में हम असमर्थता महसूस करेंगे।

उनका रचना-संस्कार अंग्रेजी, उर्दू और हिंदी से संक्रमित है और संक्रमण की मात्रा इसी क्रम में है । शमशेर मेरी दृष्टि में जिस पश्चिमी साहित्य-सिद्धांत से गहरे प्रभावित होते हैं, वह है- प्रभाववाद । प्रभाववादी रचनाकार अपने विज़न को अपने नॉलेज से अधिक तरजीह देते हैं । “उनका कहना था कि लेखक का उद्देश्य वस्तु का यथार्थ चित्रण करना नहीं है, बल्कि किसी एक क्षण में वह वस्तु, घटना या पात्र कैसा लगा या दीखा, यह वर्णन करना ही उसका कार्य है । इस तरह प्रभाववादी लेखक कुछ चुने हुए ब्योरों द्वारा किसी वस्तु से अपने मन पर पड़ने वाले प्रभावों को अभिव्यक्ति देता है ।”[1] शमशेर की बहुत सी कविताएँ प्रभाववादी संस्कारों से लेपित हैं । उनके अवबोध और प्रभाववाद में बहुत बारीक रेखा है । उनकी प्रभाववादी कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा-

शाम की मटमैली खपरैल
सामने मेरे कमरे के...
पड़ी वह कितनी सूनी !

शांत अंधियाला, भारी काला-नीला, नभ में फैला
हृदय-कमल पर वह गंभीर,

[1] चौहान, शिवदान सिंह, आलोचना के सिद्धांत, स्वराज प्रकाशन,दिल्ली, 2001, पेज 129

और मैं करुण रसों में धीर

खड़ा हूँ रुकी साँस-सा मौन ।

(शाम की मटमैली खपरैल, उदिता:अभिव्यक्ति का संघर्ष)

खपरैल प्रायः लाल होती है । यदि शमशेर अपने नॉलेज को महत्व देते तो शायद खपरैल को मार्क्सवाद से जोड़ते और उसे धूप-छाँव से बचाने वाली कोई शै घोषित कर देते, पर वे अपने विज़न को, खपरैल का अन्तःकरण पर पड़ने वाले प्रभाव को शब्द देते हैं । शमशेर की प्रभाववादी कविताएँ सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम हैं ।

अतियथार्थवाद में एक विद्रोहबोध होता है; सामान्य वास्तविकता के विरूद्ध निजी वास्तविकता का विद्रोह । यह निजता कलाकार को एक वृहत्तर परिदृश्य से काटती भी है परन्तु एक ऐसे अवसर का सृजन करती है जिसमें कलाकार का अनुभूत सच अपनी मौलिकता और विशिष्टता में मुखरित होती है । शमशेर के प्रमुख स्वरों में एक स्वर अतियथार्थवाद का भी है । उनकी बहुमानित कविता 'टूटी हुई, बिखरी हुई' के कई बिम्ब अतियथार्थवादी अवबोध के उम्दा उदाहरणों में-से हैं । अन्य कविताओं से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं-

स्थिर है शव-सी वात ।

(स्थिर है शव-सी वात)

सूर्य मेरी पुतलियों में स्नान करता

केश-वन में झिलमिलाकर डूब जाता

स्वप्न-सा निस्तेज गतचेतन कुमार।

(योग)

आँख   योनि   गुलाब दरिया का भँवर

खुलती हुई शाम

डूबता सूरज

अँधेरी की मिठास में

(शाम-सुबह)

नदियों में अनुभव का ताप खिला हुआ है

उस पर मुर्दों की छाया-सी

कोई चील उतर रही है

(एक आदर्श/लहरों के पार)

सीने में सुराख़ हड्डी का।

आँखों में: घास-काई की नमी।

एक मुर्दा हाथ

पाँव पर टिका

उलटी क़लम थामे ।

(सींग और नाख़ून)

इन कविताओं में कवि का निजी यथार्थ उसके व्यापक वास्तविक यथार्थ को परास्त करके अनुभवप्रसूत आत्मसत्य को पूरी प्रामाणिकता के साथ कविता में दर्ज करता है । अतियथार्थवाद के प्रमुख हस्ताक्षर, लुई अरागां से शमशेर बखूब परिचित ही नहीं थे बल्कि उनपर लेख भी लिखे,जो उनकी गद्य-पुस्तक में संकलित है । शमशेर स्वयं की रचनाशीलता की सार्थकता को लेकर जो सशंकित थे उसका आभास उन्हें अरागां और अतियथार्थवादी कवियों की परिणितियों से ही हुआ था । शायद शमशेर उपेक्षा और न समझे जाने की दुखद वस्तुस्थिति से संज्ञानित होकर भी अनुभवों की मौलिकता से समझौता नहीं करते । अतियथार्थवादी रचनाकारों के लिए वे लिखते हैं- “इन कलाकारों का जोर, जाहिर है कि, शब्दों- -अकेले- - शब्दों-रंगों-धुँवों-सपनों-और-यादों के एक गड्डमड्ड पैटर्न पर था; जिसने कि उस वक्त के यूरोपीय समाज की बौद्धिक उहापोह का फ़िल्मी नक्शा तो ज़रूर मौजूद रहता था- -जिसके कि मानी समझे या समझाये नहीं जा सकते, बल्कि जो सिर्फ महसूस किये जा सकते थे- -सिर्फ एहसास के जरिये ही उन्हें पकड़ा जा सकता था ।”[1] इस गड्डमड्ड पैटर्न को चाहे तो अमूर्तन से जोड़ सकते हैं जो चीजों को उनकी संश्लिष्टता के साथ ग्रहण और प्रस्तुत करती है । शमशेर शैली के गुलाम नहीं हैं और वस्तु के

[1] अरगड़े, रंजना(स.), कुछ और गद्य रचनाएँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1992, पेज 48

भी नहीं; वे यदि अतियथार्थवाद से मोहित होते हैं तो मात्र अनुभव-सत्य की अभिव्यक्ति के कारण । इस संदर्भ में उनकी घोषणाएँ भी मौजूद हैं- "इसीलिए मैं कहता हूँ कि शैली यथार्थवादी है या प्रतीकात्मक, विषय रामायण का है या इंक़लाब का,- -मुख्य चीज़ कलात्मक अनुभूति की सच्चाई और शक्ति है, शैली या विषय नहीं ।"[1]

बिम्बवाद एक प्रतिक्रिया का नाम था जो कविता की मूर्त भाषा के नकार से अनुप्रेरित था । बीसवीं सदी के आरम्भ में यूरोपीय कविता एक सपाट और शिथिल भाषा से ऊब का संकेत करती है और एज़रा पाउंड इस कार्यवाही के अगुवा बनते हैं । बिम्बवाद भाषा के स्तर पर दुहरावजन्य वाक्यविन्यास और वस्तु के स्तर पर स्थूलता को रचना-सौन्दर्य के खिलाफ़ मानते हुए इनका निषेध करता है । शमशेर की कविता बिम्बों, कहना चाहिए ताजा बिम्बों से लदी पड़ी है और बिम्ब भी ऐकेंद्रिय नहीं, बल्कि दृश्य, श्रव्य, घ्राण, स्वाद और स्पर्श बिम्बों की माला है । यह कवि की इन्द्रियों की तीक्ष्णता और बोध का परिणाम है कि शुद्ध ताजे बिम्बों की सर्जना और उनमें दुहराव की रेखाओं के लिए कोई अन्तराल नहीं, कोई अवकाश नहीं । शमशेर की कविता में आये बिम्बों के कुछ उदहारण इस प्रकार हैं-

यह समन्दर की पछाड़

तोड़ती है हाड़ तट का-

---

[1] वही, पेज 169

अति कठोर पहाड़ ।

यह समन्दर की पछाड़

(सागर-तट, दृश्य बिम्ब)

मेरी बाँसुरी है एक नाव की पतवार-

जिसके स्वर गीले हो गये हैं,

छप-छप-छप मेरा हृदय कर रहा है...

छप छप छप।

(टूटी हुई,बिखरी हुई, श्रव्य बिम्ब)

ओ

शक्ति के साधक अर्थ के साधक

तू धरती को दोनों ओर से

थामे हुए और

आँख मीचे हुए ऐसे ही सूँघ रहा है उसे

जाने कब से

(सारनाथ की एक शाम, घ्राण बिम्ब)

हलकी मीठी चा-सा दिन

मीठी चुस्की-सी बातें,

मुलायम बाहों-सा अपनाव ।

(दूब, स्वाद बिम्ब)

पलकों पर हौले-हौले

तुम्हारे फूल-से पाँव

मानो भूलकर पड़ते

ह्रदय के सपनों पर मेरे!

(दूब, स्पर्श बिम्ब)

प्रतीक दुनिया की प्रत्येक भाषा और साहित्य का अंग रहा है जिसके माध्यम से कवियों ने अभिधा की विवशता और बाहुल्य से रचना को न सिर्फ बचाया है बल्कि कविता की भाषा को बोलचाल की भाषा से अलग करने का काम भी किया । प्रतीकवाद फ़्रांस की जमीन पर पल्लवित वह काव्यान्दोलन है जो कविता में पारानेशियनवाद और उपन्यास में प्रकृतवाद को अपदस्थ करके उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अस्तित्व प्राप्त करता है । प्रतीक किसी अप्रस्तुत के लिए संदर्भित प्रस्तुत होते हैं परन्तु प्रतीकवाद के पुरस्कर्ताओं, वॉदलेयर, मलार्मे, वालेरी इत्यादि की रचनाओं में इसका घनत्व इस स्तर तक है कि रचनाएँ रहस्यवाद की सीमाओं को छूने लगती हैं । प्रतीकवाद काव्य-भाषा को अधिक व्यंजक बनाने में न सिर्फ योगदान दिया बल्कि कविता में अर्थ-भाव के बहुवचन की संभावनाओं को भी जीवन दिया । वस्तुतः संज्ञाएँ व्यावहारिकता के लिए

अनिवार्य हैं, जबकि संज्ञाएँ सीमाओं का सृजन करती हैं और इस तरह कलाओं के विपरीत ठहरती हैं। "मलार्मे ने कहा कि किसी भी वस्तु को नाम देना यानी उसके तीन-चौथाई आनंद को समाप्त करना है, जो थोड़ा-थोड़ा जानने के संतोष से मिलता है, उसे सूचित करना , उसे जगाना- यही वह चीज है जो कल्पना को मोहित करती है।"[1]

शमशेर की कविता प्रतीक चुनती है- कहना शायद अलम न हो; शमशेर का भावबोध ही प्रतीकात्मक है। वे पहले बाहरी दुनिया से संकेत प्राप्त करते हैं फिर तुरंत ही आंतरिक दुनिया में रिवर्स हो जाते हैं और फिर वस्तुओं-भावों का प्रतीकीकरण आरम्भ हो जाता है। उनकी एक कविता है, जो हिंदी की उपलब्धि भी मानी जानी चाहिए-

लौट आ ओ धार

टूट मत ओ साँझ के पत्थर

हृदय पर

(मैं समय की एक लम्बी आह

मौन लम्बी आह)

[1] अरगड़े, डॉ. रंजना, कवियों के कवि शमशेर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1988, 1998, पेज 128

लौट आ, ओ फूल की पंखड़ी

फिर

फूल में लग जा

चूमता है धूल का फूल

कोई, हाय।

(लौट आ ओ धार, प्रतिनिधि कविताएँ)

इस कविता में अतीत का आह्वान नहीं है, बल्कि बीते हुए की गहरी आकुल टीस है। यह सर्वज्ञात है कि जल-धार कभी अपना रूख नहीं मोड़ेगी, पंखुड़ी एक बार विलग होकर पुनः कभी फूल को नसीब नहीं होगी फिर भी एक दिलकश और दर्दनाक गुहार है। गुहार है क्योंकि जो गुजर गया वह ऐसी रिक्तताएँ रच गया जिनका कोई विकल्प नहीं है। धार और पंखुड़ी का प्रयोग कवि ने उन असमर्थताओं के प्रतीक के लिए किया है जो कवि की और हम सबकी नियति और होनी है। 'धूल का फूल' अवशेषों का प्रतीक है जिसे कवि चूमता है।

इन्ही प्रतीकों की गझिनता शमशेर में रहस्यवाद का भी आरोप करती है। जब अभिव्यक्ति प्रतीकों की माला बुनने लगती है तो प्रायः अमूर्त हो जाती है। चूँकि शमशेर पारम्परिक प्रतीकों का प्रयोग लगभग नहीं करते तो पूरी कविता में कई बार एक भी संकेत नहीं मिलते जिनके माध्यम से कविता में प्रवेश किया जा सके और कविता की कोई मान्य

व्याख्या प्रस्तुत की जा सके। शमशेर की उस रंग की कविताओं में अमूर्तन की अभिव्यक्तियाँ अधिक हैं। उन कविताओं से किसी बौद्धिकता से उलझना बेकार ही सर पीटना होगा; वैसी कविताओं के लिए पाठक के पास पुनर्सृजन की प्रतिभा होनी चाहिए और एक सम्वेदनसिक्त विवेक भी। रहस्यवाद का अर्थ समय और देश के अनुरूप अलग-अलग निश्चित किया गया है परन्तु रहस्य का अर्थ ही होता है, जो अनसुलझा रहे; जो सुलझ जाये वह पहेली बन जाती है। चाहे संत कविओं की पारलौकिक बानियाँ हों या छायावादियों की अनखुली-अनुखुली-अधखुली-अखुली अभिव्यक्तियाँ, रहस्य की एक स्वस्थ परम्परा हिंदी में मौजूद रही है। नामवर सिंह इसे छायावाद के लिए ही समीचीन मानते हैं और यह मान्यता असहमति के लिए उकसाती है, रहस्य को अनुभूति से संबध्द करना रहस्य की सार्थकता की वकालत है। वे लिखते हैं-"रहस्यवाद ज्ञान से अधिक अनुभूति है"[1] शमशेर का रहस्य पाठक की सीमा है -यह कथन न तो हिंदी पाठक को कम बौद्धिक आँकने का प्रयास है न शमशेर को परग्रही घोषित करने का; यह कथन मनुष्य की अवचेतन-गतियों की जटिलता और सांरचनिक रूप से उनकी विशिष्टता के परिणामों को सूचित करता है। यदि शमशेर की रहस्यवादी कविताओं के शीर्षक हटा दिए जाएँ तो यह भी तय करना मुश्किल हो जायेगा की कविता का वर्ण्य-विषय क्या है। इस ढंग का एक उदाहरण दिया जाता है-

जँगले जालियां,

[1] सिंह, नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पेज 40

स्तम्भ

धूप के संगमरमर के

ठोस ताम के ।

कँटीले तार हैं

गुलाब बाड़ियाँ ।

दूर से आती हुई

एक चौपड़ की सड़क

अंतस में

खोई जा रही ।

(होली: रंग और दिशाएँ, प्रतिनिधि कविताएँ)

हिंदी साहित्य में प्रयोगवाद के अगुआ और प्रणेता अज्ञेय हैं, परन्तु मैं स्पष्ट रूप से कहना चाहूँगा कि शमशेर ने प्रयोग का आह्वान अधिक किया है बनिस्बत प्रयोग करने के । अज्ञेय की तुलना में शमशेर ने शिल्प और कथ्य दोनों स्तरों पर अधिक प्रयोग किया है । अज्ञेय सिर्फ सूचित करते हैं कि 'प्रतीकों' के 'देवता' कूच कर गये हैं और हिंदी के 'मुलम्मों' पर 'बासन'

अधिक घिसा जा चुका है; शमशेर नए 'मुलम्मों' का इजाद करते हैं और हिंदी पर चढ़ाते हैं। पहली बार शाम के लिए शमशेर योनि का बिम्ब लाते हैं, बिलकुल अकुंठ बिम्ब। यह कथ्य के स्तर पर शमशेर के प्रयोगों की बानगी भर है। शिल्प में स्पेसिंग और पैराफ्रेजिंग तो ऐसे हासिल हैं जो शमशेर को इकलौता बनाते हैं। शमशेर प्रयोगवाद के संदर्भ में कहते हैं- "प्रयोगवाद' लफ़्ज ग़लत है; लेकिन इससे कुछ समझा जाने लगा है आज के हिंदी साहित्य और ख़ास तौर से कविता में। इससे जो समझा जाने लगा है, वह हमेशा नहीं होता आया है; यानी जो कुछ प्रयोगवाद से समझा जाने लगा है (symbolism और formlism का कोई भी रूप), उसको अज्ञेयजी की 'प्रयोग' की व्याख्या 'दूसरा सप्तक' की भूमिका साफ़ नहीं करती।"[1] वस्तुतः शमशेर का प्रयोगवाद अज्ञेय के प्रयोगवाद से इस सत्य की भूमि पर अलग होता है कि रचनाकार आत्म का जो भी सच तय करेगा वह समाज निरपेक्ष नहीं होगा। उसकी अभिव्यक्ति कभी भी ऐसी कोई शै नहीं होगी कि उसका समाज और परिवेश से कोई नाता न होगा।

शमशेर प्रथम दृष्टया बहुत से नए आस्वादकों को रूपवादी नज़र आते हैं। परन्तु रूपवाद एक पारिभाषिक शब्दावली है और सुचिन्तित आन्दोलन है जो जीवन में कौतूहल को अनिवार्य मानता है और यह भी स्पष्ट करता है कि हमारा जीवन और हमारी जीवन-दृष्टि ऊब की गहरी परतों के बीच दबी घुट रही है, उसे अभिव्यक्ति के साधनों, विशेषकर

[1] कुछ और गद्य रचनाएँ, वही, पेज 171

भाषा के माध्यमों से तोड़ना होगा । अतः शमशेर को रूपवादी कहना किसी भी तर्क से वैध नहीं हो सकता ।

जिसे अध्येता शमशेर का आदर्शवाद मानते हैं वह उनके कवि-व्यक्तित्व का ऐसा सच है जिसकी सार्थकता के प्रति शमशेर स्वयं सशंकित हैं । यदि किसी मूल्य को उनका आदर्श माना जा सकता है तो मार्क्सवाद को । मार्क्सवाद के मानकों को वे अपना आदर्श साबित करते हुए अपनी डायरी में कविता के रूप के लिए जो दस मानक गढ़ते हैं, वह उनका वह आदर्शवाद है जहाँ वे पहुँचना चाहते थे और कभी पहुँच नहीं पायेंगे; और जिन कविताओं की जानिब से वे हिंदी-पट्टिका से कभी मिटाये नहीं जा सकेंगे, वह उनका वह आदर्शवाद है जिसे उन्होंने 'यूँ ही' साध लिया है ।

शमशेर के प्रतिनिधि स्वरों की शिनाख्त़ करने के दरम्यान एक उसी मुश्किल से सामना होता है जो उनके कवि-व्यक्तित्व की मुश्किल है- वैषम्य का संयोजन और बहुलतावाद । मसलन शमशेर की ऐंद्रिकता की परख से ही हम शुरू करें तो एक आश्चर्यजनक तथ्य यह हासिल होता है कि उनमें वैष्णवी संस्कारों के बावजूद शरीर की ऐसी व्याख्याएँ हैं जिन्हें सावधानी से न पढ़ा जाय तो एकबारगी अश्लीलता का भ्रम पैदा करते हैं । नामवर सिंह उनकी सघन ऐंद्रिकता को लक्ष्य करके ही 'शरीर का उत्सव' जैसा पद रचते हैं । जिसके संदर्भ में गोपेश्वर सिंह लिखते हैं- "यह कहने की जरूरत है कि शमशेर की सौन्दर्य-चेतना हिंदी कविता का नया अध्याय है । वह स्त्री-देह और सौन्दर्य के प्रति मायावादी, भोगवादी, आध्यात्मिक

श्रद्धामयी-रहस्यमयी सौन्दर्य चेतना का प्रत्याख्यान है ।"[1] यह प्रत्याख्यान जेंडर न्यूट्रलिज़्म की अभूतपूर्व प्रस्तुति है । शमशेर की स्त्री-दृष्टि इस तरह से फेमिनिज़्म की बहसों में भी सार्थक और अनुकरणीय साबित होती है । शमशेर स्त्री-देह के सौन्दर्य की प्रेरणा निराला से ग्रहण करते हैं और निराला विद्यापति से; परन्तु स्त्री-देह के वस्तुकरण की प्रक्रिया शमशेर तक आकर रूक जाती है । मात्र स्त्री-देह ही नहीं पुरुष-देह का भी जैसा रचनात्मक चित्र शमशेर की कविताओं में है वह हिंदी की अब तक की इतनी पुष्ट परम्परा में कहीं नहीं है । यह उनकी अकुंठ यौनिकता का भी प्रमाण है । इस सन्दर्भ में एक कविता, जो पहले 'शरीर स्वप्न' शीर्षक से और बाद में 'मकई-से वे लाल गेहुँए तलवे' शीर्षक से प्रकाशित हुई, द्रष्टव्य है-

मकई-से वे लाल गेहुँए तलवे

मालिश से चिकने हैं । ...

सूखी भूरी झाड़ियों में व्यस्त

चलती-फिरती पिंडलियाँ ।

(मोती डालें, जाँघों से न अड़ें !)

[1] कमल, अरुण(सं.), आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, जनवरी- मार्च, पेज 45

सूरज को आईना जैसे नदियाँ है-

इन मरदाना रानों की चमक

उनको खूब पसंद। ...

यह वन शिव का स्थान।

(मकई-से वे लाल गेहुँए तलवे, प्रतिनिधि कविताएँ)

एक उदाहरण स्त्री-देह की रचनात्मक अभिव्यक्ति से-

-सुन्दर!

उठाओ

निज वक्ष

और-कस-उभर!

अंकित कर विकल ह्रदय-पंकज के अंकुर पर

चरण-चिह्न,

अंकित कर अंतर आरक्त स्नेह से नव, कर पुष्ट,

बढ़ूँ

सत्वर, चिरयौवन वर, सुंदर !-

उठाओ निज वक्ष: और और कस, उभर !

(एक मुद्रा से, प्रतिनिधि कविताएँ)

शमशेर की कविताओं का दूसरा अर्थशाली राग है- प्रकृति । शमशेर के यहाँ प्रकृति वर्ण्य नहीं है, बल्कि वह डाली है जिसपर बैठकर एक पच्छी अपना दुःख गाता है और सुख दुहरा लेता है । शमशेर की कविताओं में प्रकृति प्रायः बहाने से आती है । उनके आंतरिक हलचलों का आरोप प्रकृति की गतियों पर होता है । मात्र 'उषा' कविता प्रकृति के स्वायत्त-सौन्दर्य का आख्यान है । इस कविता में मनो-आवेगों के प्रत्यक्ष आरोपण से कवि बचा है ।

अप्रस्तुत ही प्रायः प्रस्तुत से अधिक अर्थगर्भी होता है, परन्तु जिस प्रस्तुत के माध्यम से रचनाकार अप्रस्तुत को स्वर देता है, वह उसकी स्थायी स्मृति का अवयव होता है । वह रचनाकार के लिए प्राथमिक साधन है इसीलिए किसी अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार उन्ही स्थायी स्मृतियों के उपकरण का प्रयोग करता है । शमशेर के रचना-संसार में प्रकृति प्रस्तुत के रूप में ही आती है । इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि शमशेर की चेतना प्राथमिक रूप से प्रकृति में ही व्यस्त होती है और अपनी अभिव्यक्ति के लिए शमशेर सबसे पहले प्रकृति के पास जाते हैं । प्रकृति उन्हें अपनी गतियों-क्रियायों के माध्यम से कथ्य को पेश करने का सुभीता प्रदान करती है । इस प्रकिया को समझने के लिए 'एक पीली

शाम’ के सच को समझते हैं- इस कविता का अंडरग्राउंड यह है कि शमशेर अपनी मृत्योन्मुख पत्नी के भावनात्मक विवरण में लग्न हैं; पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता वस्तुतः उनकी पत्नी हैं । कविता की अंतिम पंक्ति में कवि साँझ के तारे का अतल में गिरने का बिम्ब रचता है । साँझ का तारा, जिसका अंत शीघ्र है, उनकी पत्नी हैं । ‘अतल’ मृत्यु के बाद का संसार है, यदि कोई है तो । इस तरह से कवि के पास रूग्ण पत्नी के परिचय के लिए ‘पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता’ ही है । कवि दूसरे प्रतीक भी चुन सकता था परन्तु वह प्रकृति के पास ही जाता है; यह गमन इस बात का साक्षी है कि कवि पहले भी प्रकृति के पास जाता रहा है, वह बार-बार गया है । कवि के चेतना-क्षेत्र में प्रकृति इतना विस्तृत स्थान छेंकती है कि उसे दुःख(एक पीली शाम), सुख(पूर्णिमा का चाँद), सौन्दर्य(सौन्दर्य), प्रेम(टूटी हुई,बिखरी हुई), ऐन्दियता(थरथराता रहा), बालसुलभता(चाँद-से थोड़ी सी ग़प्पें), व्यक्ति-चित्र(सारनाथ की एक शाम) इत्यादि भावनाओं को स्वर देने के लिए प्रकृति ही सहज उपलब्ध है; शमशेर को कुछ भी लिखना हो, वे सबसे पहले प्रकृति की अपनी अर्जित दुनिया में दौड़ लगा आते हैं ।

शमशेर के जिस विशेष-केन्द्रित अभिव्यक्ति का जिक्र आरम्भ में किया गया है, वे सभी विनम्रता, आभार, भावुकता और शंका जन्माने की हद तक तारीफ़ से भरी हुई है । उनमें आलोचना या सम्यक मूल्यांकन की न कोई कोशिश नजर आती है न कोई ध्येय । वे मोहन राकेश से कभी नहीं मिले पर उनके मृत्युपरांत ऐसी भावप्रवण कविता रचते हैं जो मनुष्य की

भौतिक रिश्तेदारी को धता बताते हुए ये साबित करती है कि यात्राएँ उनके साथ भी सम्भव हैं जिनसे हम कभी नहीं मिले और कभी नहीं मिलेंगे। शमशेर की ही उक्ति है- 'उसमें अपना हृदय मिलाओ।' निराला के प्रति, गजानन मुक्तिबोध, त्रिलोचन को, प्रभाकर माचवे, मोहन राकेश के साथ एक तटस्थ बातचीत, शोभा, गिन्सबर्ग के लिए, का० रुद्रदत्त भरद्वाज की शहादत की पहली वर्षी पर, एक मुद्रा से, य शाम है, सारनाथ की एक शाम, पिकासोई कला, मॉडल और आर्टिस्ट, विजय सोनी के चित्र, अनिल चौधरी के चित्र, रावल गोस्वामी के चित्र, तुर्कमान गेट, लेनिनग्राद इत्यादि इसी गुणधर्म की कविताएँ हैं। इनकी रचना-प्रक्रिया और वस्तु-रचाव शमशेर के उदार और अविवादित रहने का रहस्य भी खोलते हैं।

शमशेर अपनी कविता में जितने प्रयोगधर्मी और नूतन हैं, ग़ज़लों में उतने ही पारम्परिक और व्याकरणबद्ध। इसका एक कारण यह रहा कि उर्दू की समझ होने के बावजूद वे उर्दू में वैसा अधिकार नहीं रखते थे जैसा हिंदी में; इसीलिए अभिव्यक्ति के स्तर पर उर्दू की पारम्परिकता को न सिर्फ स्वीकार कर लेते हैं वरन पूरी निष्ठा से उसका निर्वाह करते हैं। हिंदी में ग़ज़ल कहने की परम्परा कबीर से जोड़ी जाती है और अदम गोंडवी तथा उनके बाद तक जारी है, पर कहना अलम होगा कि शमशेर अकेले ग़ज़लकार हैं जिन्होंने उर्दू के बाँकपन और नफ़ासत में कोई मिलावट नहीं किया; इसके उलट उनकी हिंदी कविताओं में ही उर्दू का प्रवाह लक्षित किया जा सकता है।

शमशेर की ग़ज़लों का वर्ण्य-विषय भी पारम्परिक है । उनके रदीफ़-काफ़िये उर्दू के प्रचलित रदीफ़-काफ़िये हैं । “उन्होंने प्रायः जिन बह्रों में ग़ज़लें कही हैं, वे है बहरे हज़ज, बहरे मुतकारिब, बहरे रजज़, बहरे मल, बहरे मुजास, बहरे खफीफ़ आदि ।”[14] ‘वही उम्र का कोई पल कोई लाये’ में बहरे मुतकारिब का प्रयोग है । ‘जहाँ में अब तो जितने रोज अपना जीना होना है’ बहरे हज़ज में लिखी गयी है । कहीं-कहीं बहर का पूरा निर्वाह नहीं हो पाया है । उनके कुछ महत्वपूर्ण शेर इस प्रकार हैं-

हक़ीक़त को लाये तखैयुल से बाहर

मेरी मुश्किलों का जो हल कोई आये ।

.

एक क़लम है सौ मज़मून है;

एक क़तरा ख़ूने-दिल तूफ़ान है ।

.

राह तो एक थी हम दोनों की :

आप किधर से आए-गए !

-हम जो लुट गये पिट गये, आप जो

राजभवन में पाए गए !

.

धर्म तिजारत पेशा था जो वही हमे ले डूबा है

बींच भँवर के सौदे में यह इक खंजरी क्यों बाक़ी है ।

.

प्रतिबद्धता रचनाकार के लिए दुहरा चरित्र रखती है । वह रचनाकार की सीमा भी साबित हो सकती है और फ़ानूस भी, जिसके सहारे वह किसी तट तक पहुँचेगा । इसका कोई निश्चित व्याकरण नहीं है कि प्रतिबद्धता के बर्ताव का कौन सा रूप सीमा बनेगा और कौन फ़ानूस । विचारधारा की प्रतिबद्धता इस संदर्भ में और भी खतरनाक और डरावनी है । हिंदी में इसके मुकम्मल उदाहरण केदारनाथ अग्रवाल हैं । अग्रवाल के लिए विचारधारात्मक प्रतिबद्धता एक ऐसी सीमा की रचना कर चुकी है जो उनके रचनाकार की मृत्यु का कारण बन सकती है जबकि मुक्तिबोध-त्रिलोचन और एक हद तक नागार्जुन भी प्रतिबद्ध रहे हैं पर उनकी रचनाधर्मिता के लिए प्रतिबद्धता कोई घातक हथियार नहीं बनने जा रही ।

शमशेर की रचनाधर्मिता का हरेक पक्ष बहुलता में देखने का आग्रह रखता है । उनके रचना-संसार के प्रत्येक पहलू पर मतबाहुल्य हो सकता है, परन्तु जो एक तत्व उनकी कविता में अविवादित और बहुमान्य है, वह है- मार्क्सवाद के प्रति प्रतिबद्ध लेखन; वह भी अंत तक । रामविलास शर्मा लिखते हैं- “वे बहुत ही पक्के किस्म के मार्क्सवादी थे, और मार्क्सवाद के लिए उन्होंन मार भी खायी थी । कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर पर हमला

हुआ था तो वे वहाँ मौजूद थे। वे जनयुग में काम करते थे। उनको भी चोट लगी थी। उनका सर पट्टियों से बँधा हुआ था। उनका चित्र जनयुग के प्रारम्भिक पृष्ठ पर छपा था।"[1] यह तो भौतिक प्रतिबद्धता है। पर उनकी कविताओं में इस संदर्भ की तफ़्तीश से पहले भौतिक प्रतिबद्धताओं के संदर्भ में समझ लेना चाहिए। शिवकुमार मिश्र एक बातचीत में कहते हैं- "बुनियादी रूप से मनुष्य, समाज, राष्ट्र और उसके भविष्य के प्रति जो गहरी चिंता का भाव किसी भी ईमानदार मार्क्सवादी में होना चाहिए, उनमें बहुत थी। वे सोचे हुए, समझे हुए तरीके से मार्क्सिस्ट विचारधारा में आये और एक बार आये तो जीवन के अंतिम क्षणों तक उसे छोड़ा नहीं।"[2] ये दोनों वक्तव्यमूलक सूचनाएँ उनके पक्ष में पड़ती हैं परन्तु एक दूसरा भी पक्ष मौजूद है। विजयदेव नारायण साही कहते हैं- "वक्तव्य उन्होंने सारे प्रगतिवाद के पक्ष में दिए, कविताएँ उन्होंने बराबर वह लिखीं जो प्रगतिवाद की कसौटी पर खरी न उतरतीं।"[3] साही शमशेर के पूरे प्रगतिवादी अभिव्यक्ति को हाशिये का पुरस्कार देते हैं। जबकि प्रगतिवादी कविताओं की संख्या उनकी कुल कविताओं की लगभग आधी है। यदि एक बार उनकी मात्रात्मकता का तर्क ख़ारिज भी किया जाता है (जोकि शमशेर की कविता-समझ का अपमान ही होगा) तो भी गुणात्मकता की दृष्टि से जनधर्मी कविताएँ हिंदी में एक नया वितान रचती हैं। हिंदी के अन्य कवियों का यथार्थ वस्तुगत होता है जबकि शमशेर का यथार्थ आत्म से प्रमाणित होता है इसीलिए उनमें संवेगगर्भी भाषा का प्रयोग मिलता

[1] कमल, अरुण(सं.), आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सहस्राब्दी अंक, पेज 10

[2] शमशेर: कवि से बड़े आदमी, वही, पेज 254

[3] रचना समय,वही, पेज 26

है । इसी संवेगगर्भी भाषा को विनोदकुमार शुक्ल लक्ष्य करते हैं- “शमशेर को मैंने मुक्तिबोध जी के बाद जाना । कविता इतनी उथली नहीं होती कि ‘लाल’ शब्द कहने या लिखने से लाल रंग उभरता है, सफ़ेद रंग कहने से लाल न भी उभरे तब भी लाल का अर्थ उभर सकता है ।”[1]

शमशेर स्वयं मर्क्सवाद को ऑक्सिजन कहते हुए पाए गये । दूसरी जगहों पर भी वे कहते हैं- “मार्क्सवाद को मैं आदमी के इतिहास को समझने की दृष्टि से बहुत जरूरी समझता हूँ, पर जब विचारधारा को कविता के स्तर पर लाने की कोशिश करता हूँ तो मेरी ख़ास कोशिश यही रही है कि किसी भी क़ीमत पर काव्यात्मकता न खोने पाए । मार्क्सवाद से मेरा नजरिया बेहतर हुआ है । अधिक वैज्ञानिक और अधिक विश्वसनीय भी हुआ ।”[2] यह एक तरह का सम्यक स्टैंड है, जो न चीजों को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेता है न ही ख़ारिज कर देता है ।

शमशेर की प्रतिबद्धता जिन कविताओं में जाहिर हुई है, वे हैं- वाम वाम वाम दिशा, लेकर सीधा नारा, फिर वह एक हिलोर उठी, जीवन की कमान, बात बोलेगी, बहुत सीधे से प्रश्न, का० रुद्रदत्त भरद्वाज की शहादत की पहली वर्षी पर, शहीद का० नागेन्द्र सकलानी के प्रति इत्यादि । निश्चित रूप से शमशेर की ये कविताएँ उनका प्रमुख स्वर नहीं बन पायीं । परन्तु ये कभी नहीं भूलना चाहिए कि वे महान कविता का क्या मानक बताते हैं और किसे जीवन भर साधना चाहते रहे हैं । विचारधारात्मक

---

[1] मिश्र, अभय कुमार(स.), गुफ़्तगू-1, प्रवेशांक, श्री प्रकाशन दुर्ग, छत्तीसगढ़, 2011, पेज 12

[2] शमशेर: कवि से बड़े आदमी,वही, पेज 275

रूप से प्रतिबद्ध अभिव्यक्तियों को उनका हाशिया कहना उस प्रयास और चेतना का घोर अपमान है जो जनधर्मी स्वर की तलाश में खर्च हो गयी। जो चेतना हमेशा याद रखी कि महान कविताएँ आरक्षित पाठकों के लिए नहीं लिखी जातीं वरन उन्हें लोक की उस जमीन पर उतरना होता हैं जहाँ कविता का कोई व्याख्याता तैनात नहीं होता।

फारसी के कवि हाफिज़ प्रायः कहते थे कि जब भी तुम रेगिस्तान पर लिखो तो ध्यान रहे उसमें ऊँट न आने पाए; और असमिया के कवि निलिम कुमार कहते हैं कि मैं शब्दों को उनके अर्थों से मुक्त कर देना चाहता हूँ। शमशेर का मूल्यांकन और पाठ करते हुए इन दोनों वाक्यों को सामने रख लेना चाहिए।

तृतीय अध्याय

शमशेर की कविता में अवबोध और विचारधारा : सामाजीकरण, तनाव और अंतःक्रिया

चूँकि व्यक्ति किसी निर्वात में नहीं रहता और न ही अन्तरिक्ष के उस हिस्से में जहाँ कोई भी कारक उसके संयोजन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता, इसलिए यह मानना ही पड़ेगा कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई भी रूप मात्र एक जिद है। यह भी मानना होगा कि व्यक्ति ऐतिहासिक विकास के एक क्रम में आता है और सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक-आर्थिक-भौगोलिक प्रेरणाएँ उसके क्रम को न सिर्फ़ प्रभावित करती हैं, वरन उसका निर्धारण भी करती हैं।

मार्क्स ने व्यक्ति को परिस्थितियों का दास कहा था। इस निष्कर्ष तक पहुँचने से पूर्व मार्क्स और ऐंगल्स ने व्यक्ति की संरचना में आर्थिक-भौतिक कारकों की भूमिका का वैज्ञानिक अध्ययन किया था और बताया था कि व्यक्ति अपनी चेतना का निर्धारण स्वयं नहीं करता, बल्कि सामाजिक आर्थिक परस्थितियाँ ही व्यक्ति का निर्धारण करती हैं। लेनिन का भी यही मत है- "बुर्जुआ खुदपरस्त सज्जनों, हमें आपसे कहना चाहिए कि नितांत स्वतंत्रता की बाबत आपकी बात महज मक्कारी है। मुद्रा की सत्ता पर आधारित समाज में, एक ऐसे समाज में, जहाँ मेहनतकश ग़रीबी में और मुट्ठी भर लोग परजीवियों की तरह रहते हों, असली और सच्ची स्वतंत्रता नहीं हो सकती।"[1] मार्क्सवाद में व्यक्ति की चेतना के निर्धारक तत्वों में अर्थतंत्र को मूल कारण माना जाता है। आधार और अधिरचना की अवधारणा में अर्थ को आधार माना जाता है। यह संकल्पना

[1] लेनिन, ब्ला. इ., संकलित रचनाएँ, खंड-3, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981 ई., पेज. 226

सामाजिक नियतिवाद को जन्म देती है जिसके तहत व्यक्ति को मात्र माध्यम माना जा सकता है ।

अन्य अनुशासनों में भी व्यक्ति की स्वतंत्रता, व्यक्ति और उसके वातावरण के बीच तनाव की सही सही व्याख्याओं की कोशिश की गयी है । मनोविज्ञान में इस समस्या के अध्ययन की एक लम्बी परम्परा है । जब जे. बी. वाबसन ने कहा कि तुम मुझे एक बच्चा दो और बीस वर्ष बाद जो माँगोगे मैं तुम्हे बच्चे के रूप में वह दे दूँगा, तब यह मनुष्य के लिए निराशाजनक दावा बनकर सामने आया । यह दावा मनुष्य को भविष्योन्मुख होने से न सिर्फ रोकता है, वरन मानव-गति की प्रवृत्ति और कामना को भी निरर्थक साबित करता है । जे. बी. वाबसन का यह दावा समस्त मानव जाति के लिए एक चुनौती है । परंतु उत्तरवर्ती मनोवैज्ञानिक अध्ययनों ने व्यक्ति के जैविक गुणों की ओर भी इशारा किया । अब मनोवैज्ञानिक समस्यायों में एक बड़ी समस्या यह सिद्ध करना भी है कि व्यक्ति के जैविक गुणों और सामाजिक गुणों में मात्रा की प्रतिशतता क्या है । प्रो. एस.एस. माथुर लिखते हैं- “इसमें कोई संदेह नहीं मानव-बालक को शिक्षण दूसरे मानवों द्वारा इस प्रकार दिया जाता है कि वह एक ऐसा व्यक्ति बन जाय जिसे समाज स्वीकार कर ले । किन्तु उसके समाजीकरण के शिक्षण में उसके जैविक मूल आधार एवं मनोवैज्ञानिक गुण भी महत्वपूर्ण भाग लेते हैं । बालक अपने जन्मजात गुणों के आधार पर ही समाजीकरण की ओर विकसित होता है । बालक अनेक जैविक शक्तियों के साथ उत्पन्न होता है । ये शक्तियाँ सदैव उसकी प्रकृति में गुप्त रहती

हैं ।"[1] यदि व्यक्ति में जैविक शक्तियाँ उसके समाजीकरण के लिए उत्तरदायी हैं तो यह भी समझना होगा कि उसके जैविक आनुवंशिक गुणों के स्वरुप में कोशिकाओं की एक लम्बी ऐतिहासिक यात्रा की क्या भूमिका है । निश्चित ही यह एक पेचीदा सवाल है । परंतु मनोविज्ञान जिस तत्व को जैविक गुणों की संज्ञा दे रहा उसकी रचना का विश्लेषण किया जाय तो इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि जैविक गुण भी एक लम्बे समाजीकरण का ही उत्पाद है । 'विभ्रम और यथार्थ' का लेखक भी इस सत्य को इन शब्दों में दर्ज करता है- "जब हम मनुष्य को सहज वृत्ति और पर्यावरण में विभाजित करते हैं तो हमें यह अवश्य याद रखना चाहिए कि स्वयं मनुष्य की सहज वृत्ति भी पर्यावरणगत अनुकूलनों(प्राकृतिक चयन) की उपज है, परन्तु यह जन्मजात जैव अनुकूलन है, जबकि मनुष्य का चेतन अनुकूलन सामाजिक पर्यावरण के साथ होता है और इसलिए यह अर्जित सांस्कृतिक अनुकूलन होता है ।"[2] यह सत्य गाँधी से उनकी महानता छीन लेता है और गोडसे को उसके अपराध से मुक्त रखे जाने की वकालत करता है । यह सत्य से बढ़कर एक तथ्य है । ...और इस तथ्य की छाया में न किसी तानाशाह को व्यक्ति, सत्ता या इतिहास दंड दे सकते हैं, न ही एक कवि को उसकी महान कविता के लिए आभार प्रेषित किये जा सकते हैं । यह तथ्य किसी भी समय-समाज में अराजकता की स्थापना और संयोजन की भूमिका का बखूबी निर्वहन कर सकता है । मानवाधिकार संगठन इस तथ्य का इस्तेमाल एक लम्बे समय से करते आ रहे हैं । कौन कह सकता है

[1] माथुर, एस.एस., समाज मनोविज्ञान, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़, 1976 ई., पेज. 86

[2] कॉडवेल, क्रिस्टोफर, विभ्रम और यथार्थ(अनु. भगवान् सिंह), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990 ई., पेज. 175

कि वे गलत हैं?

कवि-व्यक्तित्व का निर्माण वही समाज करता है जिसमें क्षुद्रताओं का उत्कर्ष भी है और महानताओं की पराकाष्ठा भी । यदि हम व्यक्ति की जन्मजात प्रवृत्तियों का सहारा लेकर व्यक्ति के अनुगमन को अविकारी मान लेते हैं तो यह अपने ही सिरजे अवगुणों के सामने एक शर्मनाक समर्पण से अधिक कुछ नहीं है । जन्मजात प्रवृत्तियाँ भी समाज की लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम हैं । मैनेजर पाण्डेय अपने लेख 'परम्परा और प्रतिभा' में लिखते हैं- "व्यक्तित्व के विधायक तत्वों का विभाजन जब प्रवृत्ति और परिवेश में होता है तो यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य की प्रवृत्ति स्वयं परिवेश के संयोजन की देन है । मनुष्य की अपनी सहज विशिष्टता और सामजिक परिवेश के सांस्कृतिक तत्वों के माध्यम से सचेत होकर संयोजित संवेदनशीलता से ही कवि का व्यक्तित्व पूर्ण होता है ।"[1]

कविता का जन्म कवि के समाजीकरण से अपरिहार्यतः संलग्न है और कवि का जन्म व्यक्ति के सामाजीकरण से । इस तरह हम यह स्वीकार करने के लिए विवश हैं कि प्रत्येक कविता का सच और उसकी प्रामाणिक व्याख्या कवि के जीवन से बरामद की जा सकती है । समय के प्रवाह ने संसाधनों की बहुलता से भींगी ऐसी संस्कृति को सच साबित कर दिया है जिसके आँगन में सामूहिकता एक बासी शब्द है । परन्तु "आरम्भिक कविता सारतः सामूहिक आवेग है और इसका जन्म सामूहिक उत्सवों में हुआ था । यह वैसा अननुकुलित, निसर्गजात आवेग नहीं है जो कि किसी

[1] पाण्डेय, मैनेजर, शब्द और कर्म, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997 ई., पेज. 86

झुण्ड में शत्रु को देखकर पैदा हो सकता है । यह आर्थिक साहचर्य की आवश्यकताओं द्वारा अनुकूलित अनुक्रिया का सामूहिक आवेग है ।"[1] आरम्भिक कविता में कविता के सच को आसानी से लक्षित कर लेने की सुविधा थी । परंतु जैसे-जैसे कवि का काव्य-वस्तु आत्म की दिशा में बढ़ता गया है, कविता का सच विशिष्ट और अल्पपरिचित हुआ है ।

अवबोध की परिघटना निश्चित ही वस्तु को उनके उन संदर्भों से काट देती है जो वस्तु से किन्ही नियमों के तहत बँधे होते हैं । लेकिन यह परिघटना कवि के ही मानस-संसार में सम्पादित होती है इसलिए यह कहना मजाक करना होगा कि उनका कोई निश्चित अर्थ नहीं है । यह सच है कि उन निश्चित अर्थों का दावा कवि की तरफ से भी नहीं किया जा सकता । कवि वस्तु के सन्दर्भ में जो भी अवबोधात्मक मत तैयार करता है उसका काल की इकाई क्षण से भी सम्बन्ध होता है । क्षण गुजर जाने पर यह संभव है कि कवि स्वयं उस अवबोध तक दुबारा न पहुँच सके ।

एक फ्रांसीसी कवि अपनी कविता में दीवाली का जिक्र नहीं करेगा । एक मध्यकालीन कवि अपनी रचना में भारत-पाक विभाजन का कोई संदर्भ नहीं लायेगा । एक कवि जो दार्जिलिंग की धुप्पियों से अनजान होगा उसके अवबोध में भी धुप्पी के पेड़ नहीं आयेंगे । कहने का आशय यह कि कवि का अवबोध भी उसके सामाजीकरण से संचालित और निर्धारित होता है । यदि किसी कवि के जीवन का अध्ययन सम्पूर्णता में कर लिया जाय तो उसके अवबोध को भी डिकोड किया जा सकता है परन्तु यह

---

[1] कॉडवेल, पेज. 60

नामुमकिन है कि किसी के जीवन को सम्पूर्णता में समझा जा सके । यह मुश्किल है कि किसी व्यक्ति की छोटी-छोटी प्रेरणाओं को भी जाना जा सके । साथ ही यह भी सच है कि कोई कवि अपनी रचना में स्वयं को छिपा नहीं सकता । जैनेन्द्र लिखते हैं –"साहित्य में अपना जानना नहीं दिया जाता बल्कि अपना होना (अपनी वास्तविकता,अपनी आत्मता को) ही दिया जाता है ।"[1] जैनेन्द्र जिसे आदर्श की भाषा में प्रस्तुत कर रहे हैं वस्तुतः वह यथार्थ होता है । रचनाकार अपने होने को साहित्य में छिपा ही नहीं सकता । वह उसके कथ्य से न जाहिर हो तो शिल्प से जाहिर होगा । कई दफ़ा रचनाकार कथ्य में प्रगतिशील-लोकतांत्रिक होता है पर उसकी भाषा-शिल्प-शैली इसके विपरीत मूल्यों के संवाहक नज़र आते हैं । ऐसी स्थिति में हम यह नहीं कह सकते कि रचनाकार पूरी तरह से अलोकतांत्रिक और गैरप्रगतिशील है; संभव है कि रचनाकार किसी प्रक्रिया में हो । मुक्तिबोध की कविता के माध्यम से इसे अधिक समझा जा सकेगा । मुक्तिबोध की पूरी रचनाशीलता कथ्य के स्तर पर जनपक्षधरता की नयी इबारत है । आधुनिक कविता में जनधर्मी कविता की फ़ेहरिस्त में पहला नाम मुक्तिबोध का ही लिया जाता है, परन्तु मुक्तिबोध की भाषा और उनका शिल्प जनविरोधी है । वे एक ऐसी भाषा में कविता रचते हैं जिससे मुट्ठी भर बौद्धिक समाज अपनी निष्क्रिय जनपक्षधरता का दम भरता है । अब यह निष्कर्ष निकालना कि मुक्तिबोध जनविरोधी कवि हैं, एक खतरनाक कार्यवाही है । मुक्तिबोध की तुलना में नागार्जुन का कथ्य उतना

[1] जोशी, ज्योतिष(सं.), कला विचार, आर. पी. एच. पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रब्यूटर्स, दिल्ली, 2013 ई., पेज. 53

कसा हुआ नहीं है परन्तु नागार्जुन जनधर्मी मूल्यों के सन्दर्भ में मुक्तिबोध से अधिक सफल कवि हैं । मुक्तिबोध के मुहावरे जमीन पर अपने पाँव नहीं उतार सके । इन्हीं मानकों पर शमशेर की कविता को आगे हम परखने की कोशिश करेंगे ।

सामाजिक नियतिवाद के माध्यम से भी यदि कवि के रचना-तंत्र को समझा जाय तो कवि का शब्द से लेकर संवेदना तक का चुनाव एक गहरी व्यापक सामाजिक प्रक्रिया का ही हिस्सा नजर आयेगा । इसे बहुत सामान्य उदाहरणों से समझने की कोशिश की जाय तो पायेंगे कि अस्मितावादी कविता का आरम्भ तब होता है जब भारतीय संविधान वंचित-दमित वर्ग को शिक्षा का अवसर देता है । उस अवसर का लाभ लेकर जिस पहली पीढ़ी ने लिखना शुरू किया उसी के साहित्य को अस्मितावाद के नाम से पहचाना गया । अस्मितावादी साहित्य के उभार के पीछे जितने भी सामजिक कारक-प्रेरणाएँ-अनुप्रेरणाएँ काम कर रही थीं उनके अभाव में इस साहित्य का चिह्न दिखाई न देता । यदि अस्मितावादी किसी रचनाकार की जीवन-घटनाओं को उनकी कविताओं में अभिव्यक्त संसार से सुमेलित किया जाय तो सहज ही वह साम्य दिखायी पड़ेगा । उस रचनाकार का अवबोध एक विशिष्ट अर्थ से संदर्भित होगा, चाहे हम उसे समझ पाये या न समझ पाये । मुक्तिबोध रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में जो मत प्रस्तुत करते हैं, वह यहाँ देखना समीचीन होगा- "बाह्य से प्राप्त ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा लेखक के अंतर्जगत में स्थान पाकर, उसके (लेखक के) व्यक्तित्व की आंतरिक आवश्यकताओं की

पूर्ति की दिशा में, अपने विभिन्न रूप (उसके ह्रदय में) गठित करती हुई उसकी अपनी ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा बन जाती है । बाह्य से प्राप्त ज्ञान और भाव लेखक के अंतर्व्यक्तित्व में ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि वे उसके निजी हो जाते हैं । इसीलिए कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित नहीं होता, वह अपने युग का अंग होता है ।"[1] युग का अंग होने अर्थ हुआ कि रचनाकार युग की सीमाओं का पूरी तरह से अतिक्रमण नहीं कर सकता । युग की असफलताएँ रचनाकार की भी असफलताएँ होंगी । इसका सजीव उदहारण कबीर की कविता है । एक अभूतपूर्व क्रांतिकारी जो मध्यकालीन बोध-तंत्र को झकझोर देता है, स्त्री के संदर्भ में उसी पारम्परिक ज्ञानकांड का हिस्सा बनकर रह जाता है ।

विचारधारा और अवबोध अपनी मूल प्रकृति में परस्पर भिन्न ही नहीं वरन विपरीत भी हैं । दोनों का चयन रचनाकार के सामाजीकरण से सन्नद्ध है । दोनों परस्पर प्रभावित नहीं कर सकते; तटस्थ रहते हैं । यद्यपि यह मुश्किल है कि कोई रचनाकार किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध हो और उसका अवबोध उसकी प्रतिबद्धता से प्रभावित न हो । ऐसा तभी संभव हो सकता है जब रचनाकार यह सतर्कता बरते और सचेत रहे कि उसकी रचना एक स्वतंत्र भावावेग के तहत संभव हुई है या पूर्वनिर्धारित संकेतों को आधार बनाकर । क्योंकि मैं यह दिखा चुका हूँ कि अवबोध का कोई निश्चित अर्थ होता होगा, जो उसके सामाजीकरण से निर्धारित होता है; इसलिए जब कोई विचारधारात्मक रूप से प्रतिबद्ध रचनाकार कोई

[1] नवल, नंदकिशोर (स.), हिंदी साहित्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003 ई., पेज.134

अवबोधात्मक रचना करता है तो उसमें विचारधारा की छायाओं के होने, न-होने की समान संभावनाएँ होती हैं । जैसे शमशेर की ही कविता है- ‘कॉमरेड रुद्रदत्त भारद्वाज की पहली बरसी पर ।’ इस कविता का आरम्भ वे दो बिम्बों से करते हैं; पहला, हँसी का फूल और दूसरा, उषा का ह्रदय । ‘उषा का ह्रदय’ को यदि इस तरह से समझे कि ‘लाल’ सूरज जिसके गर्भ से निकलता है, उस उषा का भावात्मक सार रुद्रदत्त भारद्वाज हैं, तो यह विचारधारा की अनुप्रेरणा होगी । परन्तु पहला बिम्ब स्वतंत्र संवेदना का परिणाम है । कवि ‘हँसी का फूल’ में कवि कोई निशान नहीं छोड़ता जिसके माध्यम से बिम्ब की कोई तार्किक व्याख्या ढूँढी जा सके । यह बिम्ब उस व्यक्ति का शमशेर के मानस-पटल पर पड़ने वाले प्रभाव का नतीजा है । यह प्रभाववादी अवबोध है ।

विचारधारा चीजों को समझने-समझाने का एक निश्चित तरीका देती है जबकि अवबोध चीजों को एक एलियन की तरह ग्रहण करने और प्रस्तुत करने के लिए उकसाती है । लेकिन एक एलियन भी यह नहीं कह सकेगा कि एक पेड़ की जड़ें जमीन में या मिट्टी में नहीं हैं । कहने का आशय यह कि अवबोध कोई जादुई दृष्टि नहीं है जिसके माध्यम से चीजें अपना अस्तित्व खोकर किसी अन्य अस्तित्व में प्रवेश करती हैं । पोंती इस संदर्भ में कहते हैं- “What then have we learned from our examination of the world of perception? We have discovered that it is impossible, in this world, to separate things from their way of

appearing."[1] इस तरह देखा जा सकता है कि अवबोध का चीजों को ग्रहण करने का तरीका चीजों में अनंत संभावनाओं का स्वप्न देखता-दिखाता है। इसके विपरीत विचारधारा स्थिर दृष्टिकोणों से वस्तुगत सत्ता का दर्शन कराती है।

अवबोध और विचारधारा के बीच तनाव का सबसे बड़ा कारण यह है कि विचारधारा सुचिंतित, सुविचारित ज्ञान का वह हिस्सा है जो तर्क और कारण के धरातल पर ही संभव होता है। जबकि अवबोध ठीक इससे उलट चरित्र रखता है। पोंती लिखते हैं- "All knowledge takes its place within the horizons opened up by perception."[2] अवबोध सभी वैज्ञानिक नियमों से परे सृष्टि को प्रत्येक क्षण नए रूप में देखने का आग्रह करता है। शमशेर अपनी कविता 'धूप कोठरी के आईने में खड़ी' में माँ को याद करते हैं। शमशेर की माँ की मृत्यु जब हुई तब शमशेर पाँच वर्ष के थे। इस स्थिति में सामान्यतः नॉस्टेल्जिक अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति होती है; शमशेर भी हैं। परन्तु वे सारी जगत-क्रियाएँ जो कवि को उसकी माँ की याद दिलाती हैं, वर्तमान में घटित हो रही हैं और कवि की अवबोधात्मक मनीषा जिन भी क्रिया-व्यापारों का वर्णन कर रही है उनका माँ की स्मृति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं बन रहा है। 'पारदर्शी धूप के पर्दे / मुस्कराते मौन आँगन में'- यह एक पूरा बिम्ब है और कोई यह नहीं कह सकता कि इस बिम्ब से 'उदास मा का मुख' का क्या सम्बन्ध है। कवि की

---

[1] Maurice merleau-ponty, the world of perception, routledge, new York, 2004 edition, page.94

[2] Maurice Merleau-ponty, Phenomenology of Perception, Routledge, 2002, page.241

याद में उदास माँ उपस्थित होती है परन्तु कविता के किसी बिम्ब से उदासी की अर्थछाया अभिव्यंजित नहीं होती है; कहना चाहिए हमारे लिए अभिव्यंजित नहीं होती है। सम्भव है कि शमशेर के लिए वह मुस्कराती धूप उदासी का अर्थ रखती हो। इसी कविता में एक और बिम्ब आता है-

'एक मधुमक्खी हिलाकर फूल को

बहुत नन्हा फूल

उड़ गई'

इस बिम्ब में तितली को माँ का प्रतीक समझने का भ्रम सामान्यतः पैदा होता है। लेकिन यह इसलिए संभव नहीं कि हिलाने में गतिशीलता है, जबकि उदासी में गतिशीलता का भाव नहीं आयेगा। इस बिम्ब में उदासी रचने का काम वह फूल कर रहा है जो हिलाकर छोड़ देने के बाद अपनी गतिशीलता धीरे-धीरे कम रहा है। तितली उड़ गयी है, इसलिए फूल में एक शांति आ रही है; एक शांति, जो कामना के तहत नहीं आती बल्कि सबकुछ ख़त्म होने के बाद सबकुछ पर छा जाती है। ...तो शमशेर यहाँ अपने ज्ञान को पीछे धकेलते हुए अपने अवबोध का सहारा लेते हैं।

अवबोध सदैव वस्तुपरकता के विरूद्ध होगा। व्यक्ति का बोध-तंत्र संस्कृतियों, सभ्यताओं और सामाजिक वातावरण के तहत अनुकूलित होता है। ऐसे में व्यक्ति गहरे अर्थों में अंधा होता है, पूर्णतः न सही तो अंशतः अनिवार्य रूप से। "यदि हम सफ़ेद वर्ग पर काला माल्टिज क्रॉस बनायें तो हम या तो क्रॉस को देख सकते हैं या उसके अंगों के बीच के रिक्त स्थान को

देख सकते हैं, परन्तु हम दोनों रूप साथ नहीं देख सकते । दूसरे मामले में जब काले रंग को बीच के रिक्त स्थान के रूप में लेते हैं , तब हम चित्र को काली पृष्ठभूमि पर चार पंखुड़ी वाले सफ़ेद फूल के रूप में देखते हैं । ...शायद एक बागवान को यह चित्र फूल के रूप में और एक सैनिक को क्रॉस के रूप में दिखायी देगा । बोध चुनाव के इस पहले से मौजूद तत्व पर निर्भर करता है ।"[1] यहाँ जिस पहले से मौजूद तत्व की ओर इशारा किया जा रहा है यह वही तत्व है जो व्यक्ति को निर्मित करता है । व्यक्ति को निर्मित करने का अर्थ व्यक्ति के बोध को निर्मित करना है जिसके तहत अवबोध या विचारधारा का चुनाव किया जाता है । महत्वपूर्ण समाजशास्त्री आर. बी. बैटल व्यक्तित्व की परिभाषा ही इसी संदर्भ में देते हैं- "व्यक्तित्व वह है, जिसके द्वारा हम भविष्यवाणी कर सकते हैं कि कोई व्यक्ति किन्हीं परिस्थितियों में क्या करेगा ।"[2] यह भविष्यवाणी किसी ज्योतिषी, किसी नजूमी, किसी एस्ट्रोलॉजर की भविष्यवाणी नहीं है । यह भविष्यवाणी मनुष्य के सामजिक-आर्थिक नियतिवाद के तहत तार्किक और ठोस आधारों पर की जा सकती है । एक कवि या रचनाकार की कविताओं में उसका भूत वर्तमान और भविष्य तीनों मौजूद होता है । वह कहाँ से आया है और कहाँ तक जाएगा, इसकी पूरी सूचना रचना में छिपी होती है ।

व्यक्ति काल के तीनों रूपों से निर्धारित होता है । परन्तु गहरे अर्थों में व्यक्ति के लिए काल का कोई अर्थ नहीं है । भूत निश्चित और

---

[1] सार्त्र, ज्यां पॉल, (अनु. जवरीमल्ल पारख), अस्तित्ववाद और मानववाद, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2002 ई., पेज. 23

[2] चोचा, डॉ. ए.एम., मनोविज्ञान के सिद्धांत, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014ई., पेज.205

अपरिवर्तनीय है । वर्तमान भूत का ही प्रतिबिम्ब है और भविष्य का निर्धारण व्यक्ति की अर्जित (यह अर्जन-क्षमता भी पूर्वनिर्धारित होगी) और संयोजित बोध-सृष्टि कर चुकी है । चीजों के बारे में व्यक्ति जो भी राय प्रस्तुत करता है वह चीजों के बारे में कत्तई नहीं होता । चीजों के बारे में प्रकट की गयी अभिव्यक्ति वस्तुतः उस व्यक्ति के बारे में अधिक सूचना देती है जिसकी वह अभिव्यक्ति है । सार्त्र लिखते हैं- "जिसका हमें बोध होता है, वह किसी वस्तुपरक का प्रतिबिम्ब नहीं है जिसका कि मस्तिष्क अपने पटल पर हू-ब-हू तस्वीर अंकित करता है । वह उस वस्तु की और मस्तिष्क की अवबोधक गतिविधि का परिणाम है । और यह भी किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होने वाले तनाव या प्रवृत्ति पर निर्भर करता है ।"[1] सार्त्र वस्तु को भी महत्व देते हैं और व्यक्ति के अवबोधक गतिविधि को भी परन्तु वस्तु की वस्तुता की मात्रा निश्चित नहीं है । शमशेर की ही कविताओं में देखें तो यह मात्रात्मकता कहीं-कहीं बिलकुल गायब है । उस तरह की कविताएँ अमूर्त हो गयी हैं और पाठक के लिए कोई सन्दर्भ नहीं छोड़तीं जिससे कथ्य के समीप भी पहुँचा जा सके । शमशेर अपनी प्रेयसी के लिए लिखते हैं- तुम छोटा सा हो ताल.... । यहाँ वस्तु के लिए कवि जो भी बिम्ब लाता है वह उसके अवबोधक गतिविधि के कारण संभव हुआ है । यदि इन बिम्बों के माध्यम से यह समझा जाय कवि कहना चाह रहा है कि उसकी प्रेमिका छोटे-से ताल जैसी, घिरे फैलाव जैसी या हल्की लहर जैसी खूबसूरत है तो यह गलत होगा । सत्य यह है कि कवि के बोध-संसार में

[1] सार्त्र, ज्यां पॉल, (अनु. जवरीमल्ल पारख), अस्तित्ववाद और मानववाद, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2002 ई., पेज. 24

सौन्दर्य का प्रत्यय ही छोटा-सा ताल और हल्की लहर है । सार्त्र इस क्रियाविधि को अवधारणा का रूप देते हैं- "वस्तुपरकता जैसी कोई चीज नहीं है । या यदि वह है भी तो, केवल बोध के संभावित रूपों के या उन रूपों के सभी संबंधों और आंतरिक निर्भरताओं के ज्ञान में ही स्थित हो सकती है ।"[1]

इसी कविता के एक अनुच्छेद के माध्यम से हम कवि शमशेर के अवबोध की सामाजिकता और शमशेर के व्यक्तित्व के सामाजीकरण को समझने का प्रयास करेंगे । शमशेर कविता में लिखते हैं-

तुम छोटा-सा हो ताल, घिरा फैलाव, लहर हलकी-सी,

जिसके सीने पर ठहर शाम

कुछ अपना देख रही है उसके अंदर,

वह अँधियाला...

शमशेर प्रेमिका का परिचय एक हल्की लहर के सीने पर ठहरी हुई शाम के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं । यह एक आकर्षक और हिंदी की अब तक की परम्परा में प्रेमिका का सबसे अलग, सबसे नया और सबसे ताजा परिचय है । अज्ञेय प्रेमिका को 'कलगी की बाजरे' कहने का दम भरते रह जाते हैं, जबकि शमशेर उसे बिना कहे कर जाते हैं । लेकिन यहाँ ध्यान देने वाली अभिव्यक्ति शाम का ठहराव है । शमशेर जिस जीवन को जिये उसमें श्रम

[1] सार्त्र, ज्यां पॉल, (अनु. जवरीमल्ल पारख), अस्तित्ववाद और मानववाद, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2002 ई., पेज. 26

की वैसी अनुभवजन्य स्मृति निर्मित नहीं हो पायी जैसी लोक-जीवन में संभव है और जिसके अनुसार शाम कभी ठहरी हुई नहीं हो सकती। भारत की लोक-संस्कृति श्रमशीलता का सरापा आख्यान है। भारतीय लोक-जीवन में शाम का कोई भी सम्भव बिम्ब गतिशील ही होना चाहिए। लेकिन शमशेर की कविता में शाम स्थिरता का सौन्दर्य रच रही है। यह सौन्दर्यबोध के बनने और उनमें गहरे अंतराल के कारणों को भी रेखांकित करता है। यह इस सत्य का भी उद्घाटन करता है कि कवि के अनुभव लोक से बहुत दूर के अनुभव हैं। स्वयं शमशेर जब जनधर्मी अभिव्यक्ति के लिए प्रतिबद्ध होते हैं या एक ऐसी विचारधारा के प्रति उन्मुख होकर कविता रचते हैं जो जनधर्मी है, तब उनके बिम्ब बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के क्रिया और गति के भाव से भर जाते हैं। 'य`शाम है' कविता में शमशेर इस रंग में हैं-

य` शाम है

कि आसमान खेत है पके हुए अनाज का।

लपक उठीं लहू-भरी दराँतियाँ,

-कि आग है :

धुआँ-धुआँ

सुलग रहा

गवालियार के मजूर का हृदय।

दराँतियों के लपकने से लेकर आग और पके हुए अनाज के खेत तक सभी बिम्ब क्रिया-भाव के बिम्ब हैं। आसमान में हर पल बादल एक धीमी गति में अपना रूप बदलते रहते हैं, उन्हें कवि पके अनाज का खेत कहता है। पके खेत बहुत हल्के-हल्के हवाओं के साथ झूमते रहते हैं। ...और आगे मजूरों के चलने का चित्र; सब कुछ गति में है क्योंकि इस कविता में कवि सामान्य जन-जीवन का एक प्रामाणिक प्रसंग ले आता है। इस कविता में 'शमशेर की मात्रा' शमशेर की विचारधारा की मात्रा से बहुत कम है।

इस संदर्भ को दूसरे उदाहरण के माध्यम से भी समझा जा सकता है- भक्तिकाल के सम्पूर्ण वांग्मय में प्रत्येक कवि एक उच्च शक्ति से अपनी संरक्षण या कृपा की प्रार्थना करता है। परन्तु एक लोक कवि कहता है-

हमरी खेवय के नवरिया, तू राहे द हरी।

जब हम तोहै बोलाईब प्रभुवर अइयब छोड़ खरउआँ

काँट कूस गड़ि जाई तोहके आवत हमरी गउआँ

पउआँ फटि जइहैं बेवरिया, तू राहे द हरी।

समझि बूझि के राम चंद चंचल बइठे मुड़ीयाई

परजा होइके जे राजा से आपन टहल कराई

खाई उहै जम का मरिया, तू राहे द हरी।

भक्तिकाल के कवियों ने परमसत्ता को संचालक माना और पूज्यनीय भी; परन्तु किसी कवि की चेतना राजा-प्रजा के सम्बन्ध की छाया में आत्म-परमात्म की व्याख्या नहीं करती है । बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का एक लोक कवि ईश्वर को सम्बोधित करते हुए कह रहा है कि तुम तो राजा हो और मैं प्रजा हूँ । राजा कभी प्रजा की सेवा नहीं करता; प्रजा ही राजा की सेवा करता है । जो प्रजा राजा से अपनी सेवा कराता है वह यम की मार खाता है । यह सामन्तवादी समझ और उसका भक्ति की धारणा में आरोपण उसके सामाजीकरण का ही परिणाम है । लोक में राजा-प्रजा का अर्थ सीधे तथाकथित श्रेष्ठ्ताक्रम से जुड़ता है । लोक कवि श्रेष्ठ्ताक्रम में अतर्क्य विश्वास के कारण इस तरह की ख़तरनाक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है ।

जब मैं समाज और व्यक्ति के संबंधों पर बात करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँच रहा हूँ कि व्यक्ति की स्वतंत्रता संभव नहीं है, तब याद दिलाना जरूरी समझता हूँ कि यह दुखद नहीं है, क्योंकि व्यक्ति की नितांत आजादी उसे शून्य की तरफ ले जायेगी । यद्यपि परतंत्रता की यह अनिवार्यता व्यक्ति के पक्ष में भी पड़ती है और विपरीत भी । ...तो व्यक्ति शुभता के लिए जो कर सकता है वह सिर्फ यह है कि परतंत्र करने वाली व्यवस्था को नकारात्मक प्रेरणाओं से दूर ले जाने की पूरी कोशिश करे । परन्तु यह प्रश्न तब जटिल हो जाता है जब हम यह सत्य जान लेते हैं कि नकारात्मक सामाजिक प्रेरणाओं को दूर करने की प्रवृत्ति भी इसी समाज से आती है । इस समस्या पर समाजशास्त्री आन्द्रे बेतेइ लिखते हैं- “सामजिक क्रिया एक

सामजिक ढाँचे के भीतर ही होती है, जो कि कर्ता और अभिकर्ता की दृष्टि से सुविधा और पाबन्दी दोनों है । निःसंदेह कर्ता अपनी सामजिक स्थिति को परिभाषित करने के लिए मुक्त होता है , लेकिन वह उस सामाजिक ढाँचे को अकेले नहीं बनाता जिसके भीतर वह स्वयं को स्थित करता है ।"[1] इस सन्दर्भ में शमशेर को जोड़ेंगे तो कहना पड़ेगा कि शमशेर सिर्फ शमशेर नहीं हैं या और स्पष्टता बरते तो कहना पड़ेगा कि शमशेर हैं ही नहीं । वह जो कवितायें रचा, बहुत-सी भिन्न प्रेरणा-रूपों का संघात है, बस । उर्दू के कवि साहिर लुधियानवी ने एक बार कहा था- 'दुनिया ने तजुर्बात-ओ-हवादिस की शक्ल में / जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हूँ मैं ।' यह देने और लौटाने का व्यापार बराबर का होता है । लोकोक्तियाँ तक गवाही देंगी कि इसमें ऐसा नहीं कि बबूल का फूल बोकर आम तोड़ने की तमन्ना रखें । बॉटमोर का कथन है- "जो समाजशास्त्रीय सिद्धांत मूल्यों और मानदंडों के जरिये व्यवहार के नियंत्रण पर जोर देते हैं वे इस बात से भी ग्रस्त रहते हैं कि ऐसा नियंत्रण अंतरवेशी (इन्क्लूसिव) समाज के स्तर पर होता है और सामजिक नियंत्रण का चित्रण अपेक्षापूर्ण सामंजस्यपूर्ण, एकीकृत और स्थायी व्यवस्था के बतौर करते हैं ।"[2] समाज में किसी भी व्यवस्था को सामाजिक नियंत्रण के तहत बदस्तूर बनाये रखा जा सकता है । इसका अर्थ हुआ कि व्यक्ति की चेतना का निर्माण एक निश्चित लक्ष्य के तहत भी किया जा सकता है । इस निष्कर्ष के बाहर न तो शमशेर का अवबोध होगा न ही विचारधारा ।

[1] बेतेइ,आन्द्रे, समाजशास्त्र : उपागम और विधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2014 ई. पेज. 6

[2] बॉटमोर, टी. बी., समाजशास्त्र: समस्याओं और साहित्य का अध्ययन, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, 2004 ई., पेज.200

शमशेर की कविता में सर्वथा ऐसा नहीं कि अवबोधात्मक और विचारधारात्मक अभिव्यक्तियाँ कोई सचेत अंतराल लेकर ही पैदा हुई हों। जैसा कि रुद्रदत्त भारद्वाज सम्बन्धी कविता में देख चुके हैं कि कैसे कवि का अवबोध और उसकी विचारधारा बिलकुल आसपास, ऊपर-नीचे, एक-दूसरे को अनुप्राणित करते हुए प्रकट होते हैं। परन्तु वे एक-दूसरे में घुलते नहीं हैं। विचारधारा शमशेर के विवेक का हिस्सा है, वह उनके आत्म का, सेल्फ़ का हिस्सा नहीं बन पाता है- ऐसा कहना तब तक आसान है जबतक हम व्यक्ति के विवेक को उसके आत्म का हिस्सा नहीं मानते। परन्तु जब हम व्यक्ति को उसके विवेक के साथ अविलग मानेंगे तब अवबोध और विचारधारा का अंतराल ही धराशायी हो जायेगा।

शमशेर की कविता का सच इतना खरा और मौलिक है कि वह बहुधा अपरिचित जान पड़ता है। परन्तु, यदि शमशेर के समाजीकरण को समझ लिया जाय तो उनके अवबोध को भी समझा जा सकता है। शमशेर की कविता का वह तथाकथित अन्तर्विरोध जो हिंदी-कुटुंब में लगभग स्थापित हो चुका है; एक गलत तथ्य है जो न सिर्फ आलोचना की चालू और पूर्वमान्य धारणाओं के कारण विकसित हुआ है और आलोचना के रूढ़ बर्ताव का उदहारण है, बल्कि वह एक कवि की सीमाओं को भी छोटा करता है; विशेषकर शमशेर सरीखे कवि की सीमाओं को। शमशेर की विचारधारा और उनके अवबोध में कोई तनाव न होकर एक स्पष्ट विभाजक रेखा है। वे जहाँ प्रयत्न नहीं करते और अपनी मौलिक मेधा का इस्तेमाल करते हैं वहाँ की असफलताओं और समर्थताओं को भी शमशेर

भली-भाँति समझते हैं । जहाँ शमशेर अपने अवबोध से समझौता नहीं करते वहाँ वे इस सच से भी परिचित हैं कि उन्हें समझने में पाठक असुविधा महसूस करेगा । अपनी कविता 'ओ युग आ' में युग को संबोधित करते हुए वे लिखते हैं-

'गा वह गीत

कि जो मैं समझूँ

आज

और कोई समझे न समझे'

यहाँ कवि अपने अवबोध से सशंकित है । वह चाहता तो है कि समय उसके भीतर से उन गीतों को गाये जो अब तक नहीं गाये गए हैं परन्तु उन्हें लोग नहीं समझेंगे- इस सच का भी ख़तरा है । इसी कविता में शमशेर अपने अवबोध के प्रति जो मत प्रस्तुत करते हैं, उसे समझे बिना शमशेर की रचना-प्रक्रिया और उनके अवबोध-विचारधारा के द्वन्द को नहीं समझा जा सकेगा-

ओ युग, आ

मुझे नया   और नया   और नया बना

जैसे कली की आदिम मुस्कान

गहनतम मूलों को सहज रोमांचित करे

वैसे तू मुझको भरे !

नया बनाने की प्रार्थना या नया बनने की तमन्ना शमशेर में उनके अवबोध के सहारे ही पूरी होती है । कली की आदिम मुस्कान से कवि की प्रार्थना चीजों की आत्मा के अंतिम तल तक जाकर उनकी अनकही-अनसुनी कहानियों को प्रकट करने की कोशिश ही है । ...और इस भूमि पर, कहना होगा कि हिंदी की अब तक की काव्य-परम्परा में कवि शमशेर का कोई विकल्प नहीं है । वे चीजों में रूपवादियों की तरह अजनबियत भरने के लिए न तो भाषा पर अत्याचार करते हैं न ही कथ्य को जादुई क्षमता के तहत कृत्रिम भाव-भंगिमा से पाट देते हैं; उनका अवबोध चीजों में एक ऐसा सौन्दर्य भरता है जो चीजों की आंतरिक दुनिया का न सिर्फ प्रकटन करता है बल्कि उन्हें एक दूसरी ही नयी दुनिया का हिस्सा बना देता है । श्रीकांत वर्मा शमशेर के संदर्भ में लिखते हैं- "शमशेर की कविता नियम नहीं, अपवाद है । मुक्तिबोध की कविता भी अपवाद थी । महान कविता हमेशा अपवाद होती है । शमशेर का संसार एक तिलिस्म है, जिसे भेदना कठिन है । उसे भेदना, उसे नष्ट करना है । नष्ट करने पर केवल खंडहर ही हाथ लगेंगे । शमशेर की कविता अपने अपरिभाषित रूप में ही सार्थक है । वह सम्मोहित करती है, बाँधती है, बुलाती और गिरफ्तार करती है ।"[1] श्रीकांत वर्मा के एक वाक्य से मैं सहमत हूँ- शमशेर का संसार एक तिलिस्म है ।

[1] https://samalochan.blogspot.com/2011/08/blog-post_09.html

शमशेर त्रिलोचन के साथ बिताये एक शाम को याद करते हैं, कविता का शीर्षक देते हैं- सारनाथ की एक शाम (त्रिलोचन के लिए)। इस कविता में शमशेर त्रिलोचन को किसी विचारधारा विशेष से संदर्भित नहीं करते। लिखते हैं-

ओ

शक्ति के साधक अर्थ के साधक

तू धरती को दोनों ओर से

थामे हुए और

आँख मीचे हुए ऐसे ही सूँघ रहा है उसे

जाने कब से।

धरती को सूँघने का बिम्ब धरती से त्रिलोचन की सम्पृक्तता का अर्थ व्यंजित करता है। शमशेर की एक यह भी भूमि है जहाँ वे सम्भावनाओं के बावजूद विचारधारा और अवबोध दोनों को निरस्त करते हैं। यद्यपि धरती को दोनों हाथों में उठाकर सूँघने के बिम्ब में अवबोध और विचारधारा दोनों की बहुत क्षीण छाया नजर आती है। प्रतीत होता है कि कवि दोनों की तैयारी करते करते रह गया। पर यह 'रह जाना' कवि की असमर्थता नहीं है; यह उनकी चेतनागत वैकल्पिक बहुलता का प्रमाण है। यहाँ शमशेर दोनों विकल्पों से इतर एक ऐसी भाव-भूमि पर क़दम रखते हैं जो वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति का प्रयास जान पड़ता है। त्रिलोचन को

मार्क्सवादी कवियों में गिना जाता है और शमशेर को भी । एक मार्क्सवादी कवि दूसरे मार्क्सवादी कवि के संदर्भ में कविता रचता है लेकिन उसमें मार्क्सवाद का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता । दूसरी तरफ शमशेर इस कविता में अपने अवबोध को भी मुक्त रखते हैं । यह शमशेर का तीसरा रूप है । अमृत राय ने अपनी पुस्तक 'विचारधारा और साहित्य' में लिखा है- "कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक बौद्धिक रूप से आपकी विचारधारा को पूरी-पूरी मान्यता देता है लेकिन अपने रचना-कर्म में, कवि-कर्म में, उसको उस रूप में नहीं उतार पाता जैसे उससे अपेक्षा की जाती है । ऐसी स्थिति में उसके सहज व्यक्ति-मन, नागरिक-मन, और सर्जक मन के बीच एक भीषण अन्तर्विरोध पैदा होता है, कि जैसे एक अखण्ड मन को ऊपर से नीचे तक दो टुकड़ों में चीर गया हो । इसका अभी एक ही उदहारण मेरे मन में आ रहा है और वह है कवि शमशेर का ।"[1] यदि अमृत राय शमशेर की त्रिलोचन सम्बन्धी कविता से परिचित होते तो यह टिप्पणी करने से संभवतः बचते । यदि शमशेर त्रिलोचन के बारे में लिखते हुए मार्क्सवाद का कोई निशान कविता में नहीं लाते और न ही त्रिलोचन को रेखांकित करते हुए किसी आत्मनिष्ठ अवबोध का प्रयोग करते हैं तो यह प्रमाण है इस बात का कि शमशेर के अखण्ड मन के सिर्फ़ दो हिस्से नहीं हैं । वह जो तीसरा, चौथा, पाँचवाँ हिस्सा है वह भी तो शमशेर ही हैं । शमशेर की एक कोशिश यह भी है-

निंदिया सतावे मोहें सँझही से सजनी ।

[1] अमृतराय, विचारधारा और साहित्य, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984 ई., पेज. 96

सँझही से सजनी ।।१।।

दुई नैना मोहें

झुलना झुलावें

सँझही से सजनी ।।४।।

निंदिया सतावे मोहें० ।

इसके अतिरिक्त ग़ज़लों में शमशेर की व्यस्त चेतना का परिचय दूसरे अध्याय में हम देख ही चुके हैं। 'चाँद से थोड़ी-सी गप्पे' कविता के साथ अमृत राय कैसे न्याय करेंगे। कहने का अर्थ यह कि शमशेर की कविता अवबोध और विचारधारा के बीच ही हमेशा झूला नहीं झूलती। उसका वितान बड़ा भी है और बहुवर्णी भी। उसे सिर्फ़ दो खंडों में बाँटकर देखने की आदत शमशेर को एक भ्रमित कवि साबित करती है; जोकि वे नहीं हैं।

टेरी इगल्टन कविता की परिभाषा देते हुए लिखते हैं- "poems are moral statements, then, not because they launch stringent judgements according to some code, but because they deal in human values, meaning and purpose."[1] शमशेर के अवबोध का सामाजीकरण तय करने के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी विचारधारात्मक कविताओं का सामजिक महत्व है और अवबोधपरक कविताओं का सौन्दर्यात्मक महत्व है। ऊपर अवबोध के बनने की प्रक्रिया में समाज के हस्तक्षेपों का विश्लेषण हम देख चुके हैं इसलिए उनके अवबोध

[1] इगल्टन, टेरी, हाउ टू रीड अ पोएम, ब्लैकवेल पब्लिशिंग, ऑस्ट्रेलिया, 2007 ई., पेज. 29

का भी एक सामाजिक महत्व बनता है; यह बात दीगर है कि सम्प्रेषणियता में सफल होते हैं या नहीं। शमशेर की अमन का राग जैसी कविताएँ तो सीधे-सीधे इगल्टन की कसौटी पर खरी उतरती हैं। पर मेरी कोशिश उनके अवबोध की सामाजिकता को प्रस्तुत करने की है। एक पूरी कविता देखें-

'कत्थई गुलाब

दबाए हुए हैं

नर्म नर्म

केसरिया साँवलापन   मानो

शाम की

अंगूरी रेशम की झलक,

कोमल

कोहरिल

बिजलियाँ-सी

लहराए हुए हैं

आकाशीय

गंगा की

झिलमिली ओढ़े

तुम्हारे

    तन का छंद

        गतस्पर्श

अति अति अति आशाओं भरा

तुम्हारा

बंद बंद'

यह एक अवबोधात्मक कविता है। शमशेर अपनी आदत के मुताबिक़ पहले एक गुलाब देखते हैं फिर उसे अपनी आंतरिक दुनिया में ले जाकर उसे दूसरे सन्दर्भ से जोड़ते हुए पहले संदर्भ को अपदस्थ कर देते हैं। भारतीय मिथकों में श्यामलता को सौन्दर्य की एक पहचान के रूप में महत्व मिला है परन्तु कालांतर में श्याम रंग उस गरिमा से वंचित कर दिया जाता है। शमशेर कोई पुनरुत्थानवादी प्रयास नहीं करते परन्तु केसरिया साँवलेपन को प्रियतमा के तन का छंद कहते हैं। यह उनके सौन्दर्यबोध को तो इंगित ही करता है, यह उनके सामाजीकरण का भी प्रमाण है। साँवला शमशेर का प्रिय रंग है। इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि शमशेर अपनी विचारधारा के तहत ही अपने सौन्दर्यबोध का भी निर्माण करते हैं। यह मात्र कवि की चेतना की कंडिशनिंग है।

अवबोध और विचारधारा का उत्स एक ही है । दोनों को निर्धारित और सम्पादित करने का अधिकार और अवसर उसी व्यक्ति को प्राप्त है जो एक समाज में बहुत-सी उन तरंगों के माध्यम से तैयार होता है जिनसे व्यक्ति की इन्द्रियों का परिचय हुआ रहता है । कविता में और कविता के बाहर विचारधारा और अवबोध का एक ही उद्देश्य हो सकता है; वह है- सभ्यता को संस्कारित करने का यथासंभव प्रयास । मेकेंजी ने एक बार कहा था- "समाज सुन्दर-जीवन के लिए बनाया गया है और उसी के लिए उसे स्थिर किया गया है"[1]

[1] मेकेंजी, जे. एस., समाज-दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009 ई., पेज. 31

निष्कर्ष

कई बार हमारे क़दमों में कोलंबस की किस्मत छुपी होती है । हम 'कुछ अच्छे' की तलाश में 'कुछ बहुत अच्छे' तक पहुँच जाते हैं । मैंने जब यह शोध-कार्य आरम्भ किया था तब मेरे पास अनुमान का धुंधला-सा भी चिह्न नहीं था कि मैं इन तथ्यों और मूल्यों को पा सकूँगा; इन निष्कर्षों तक पहुँच जाऊँगा-

इस शोध-कार्य के नतीजे के रूप में मैंने पाया कि एक व्यक्ति का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नामुमकिन है । कहना चाहिए कि व्यक्ति होता ही नहीं । जिसे हम व्यक्ति कह और समझ रहे हैं वह वस्तुतः एक बहुत तवील परम्परा का, एक बहुत लम्बे चेतनात्मक अनुक्रम का प्रतिनिधि है जो वर्तमान में मौजूद है । यही सहूलियत है कि वह वर्तमान में मौजूद है और उसको आधार बनाकर उसकी परम्परा और चेतनात्मक अनुक्रम से परिचित हुआ जा सकता है । एक रचनाकार तात्विक रूप से एक व्यक्ति होता है (समाज की अपनी असमर्थताएँ होती हैं इसलिए भाषा की भी असमर्थताएँ होती हैं; मैं इसी बात को स्त्रीलिंग में भी दुहरा रहा हूँ) । एक व्यक्ति के संदर्भ में मैं इसी राय पर पहुँचा हूँ कि वह नहीं होता, कहीं नहीं होता । फिर... जो होता है उसे निर्देशित और निर्धारित किया जा सकता है और ऐसा ही किया जाता है । धर्म, समाज, संस्कृति, अर्थ जैसी संस्थाओं द्वारा निर्मित आचार-नवाचार-दुराचार-संहिताएँ यही काम करती हैं ।

इस शोध-कार्य के नतीजे के रूप में मैंने पाया कि 'पोंती' जिसे अवबोध की परिघटना के रूप में व्याख्यायित कर रहे हैं, बहुत गहरे मानसिक स्तर पर उसका एक तार्किक-वैज्ञानिक अर्थ होता है । जैसे कि सपनों की व्याख्याएँ की जा चुकने के बावजूद सपनों की वैज्ञानिक व्याख्याएँ अभी बाक़ी हैं और रहेगीं, उसी तर्ज पर किसी रचनाकार का अवबोध पाठक या स्वयं रचनाकार के लिए अतार्किक हो सकता है परन्तु उसका एक निश्चित अर्थ होता है जो उसके सामाजीकरण से तय होता है । एक रचनाकार की संभावना और असफलता, सार्थकता और निरर्थकता, कालजयिता और सालजयिता उसके सामाजीकरण से ही तय होता है । यह इत्तेफ़ाक नहीं है कि महान रचनाएँ सबसे बुरे युगों में लिखी गयीं । सामजिक वाद जिस स्तर का होगा रचनाकार का प्रतिवाद उसी स्तर का होगा । लेकिन जब मैं 'महान रचनाएँ' कह रहा हूँ तब भूल नहीं रहा कि यह एक सापेक्षिक पदबंध है ।

इस शोध-कार्य के नतीजे के रूप में मैंने पाया कि शमशेर के साथ घटित विडम्बना हिंदी आलोचना की न मात्र अशक्तता को दर्शाता है वरन हिंदी समाज के सौन्दर्यबोध के संकुचन का भी पर्दाफ़ाश करता है । शमशेर वह पहले और अब तक इकलौते कवि हैं जो शब्दों के नियत स्थान का क्रम-भंग करते हैं और शब्दों को दूसरे स्थान पर रोपते हैं, जहाँ शब्दों का अर्थ कई बार संवर्द्धित होने के अतिरिक्त परिवर्तित भी हो जाता है । शमशेर का यह प्रयास शब्दों को उनके अर्थों से मुक्त करने का प्रयास है । शमशेर का सौन्दर्यबोध लिंगनिरपेक्षता का सटीक उदहारण है । वे पुरुष के अंगों में

भी वही सौन्दर्य देखते हैं जो स्त्री-देह में देखते हैं । इस पौरुषपूर्ण समय में शमशेर का सौन्दर्यबोध न सिर्फ़ प्रासंगिक है, बल्कि उससे यह सीखा जा सकता है कि इन्द्रियों को अकुंठित होने से बचाकर बिना अश्लील हुए देह का उत्सव कैसे मनाया जा सकता है । शमशेर का अवबोध चीजों को उनके सन्दर्भों से अपदस्थ करके एक ऐसी दुनिया का हिस्सा बना देता है जो बिलकुल अनजानी होती है, जिसका उद्घाटन ही शमशेर की कविताओं के 'कर-कमलों' द्वारा होता है । शमशेर एक छटपटाहट का नाम है जो माध्यम को दुर्बल और असमर्थ मानकर उसके पार जाना चाहता रहा है । उस छटपटाहट में जो दर्शित हैं वह अदर्शित से कई गुना कम है ।

इस शोध-कार्य के नतीजे के रूप में मैंने पाया कि अवबोध दुनिया से ऊब को निर्वासित करके नूतनता के नए आख्यान का रचयिता है । विचारधारा व्यक्ति को अनुशासित और निर्देशित करती है । साहित्य में भी दोनों इसी भूमिका में उपस्थित होते हैं । सामजिक नियतवाद के अनुसार व्यक्ति के मानस के अंतर्गत विचारधारा और अवबोध के बनने और चुनाव की प्रक्रिया का विज्ञान एक ही है । यह अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता कि एक विचारधारा से प्रतिबद्ध रचनाकार का अवबोध विचारधारा से संक्रमित होगा । यह भी अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता कि अपने अवबोध को महत्व देने वाला रचनाकार विचारधारा के साथ न्याय नहीं कर पायेगा । शमशेर की कविता सुबूत है उन संभव क़रार दी गयी स्थापनाओं के प्रत्याख्यान का जिनके तहत बीच का कोई रास्ता नहीं होता ; जिनके तहत काला सफ़ेद में प्रविष्ट नहीं होता ।

इस शोध-कार्य के नतीजे के रूप में मैंने पाया कि वस्तुनिष्ठता मानव-सभ्यता द्वारा प्रयुक्त सर्वाधिक मिथ्या और भ्रामक शब्दों में-से एक है । इस सत्य का साक्षी प्रत्येक भाषा का प्रत्येक शब्द है । एक गुलाब के उतने नाम होते हैं जितनी भाषाएँ अस्तित्व में हैं । किसी भाषा में मेरे नाम का अर्थ कुत्ता भी होता होगा । गुलाब हजारों कवियों द्वारा लाखों बार कविताओं में लाया जा चुका है और अभी लाखों कवियों द्वारा करोड़ों बार कविता में ले आना बाक़ी है । कितना दिलकश है कि उन सभी का संदर्भ-प्रसंग एक ही नहीं था और न आगे होने जा रहा है । कितना दर्दनाक है कि मैं यह कहना चाहता हूँ कि सत्य नहीं होता; परम सत्य होता ही नहीं ।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

(क) आधार ग्रन्थ

1. सिंह, नामवर(स.), शमशेर बहादुर सिंह: प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, आठवाँ संस्करण, 2016 ई.

2. सिंह, शमशेर बहादुर, इतने पास अपने, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1980 ई.

3. सिंह, शमशेर बहादुर, उदिता: अभिव्यक्ति का संघर्ष, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण,1980 ई.

4.सिंह, शमशेर बहादुर, कहीं बहुत दूर से सुन रहा हूँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995 ई.

5. सिंह, शमशेर बहादुर, चुका भी हूँ नहीं मैं, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975 ई.

6. सिंह, शमशेर बहादुर, टूटी हुई, बिखरी हुई, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997 ई.

7. सिंह, शमशेर बहादुर, बात बोलेगी, सम्भावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संकरण, 1981 ई.

(ख) हिंदी सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अग्रवाल, महावीर(स.), शमशेर:कवि से बड़े आदमी, श्री प्रकाशन, मध्य प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1994 ई.

2. अमृतराय, विचारधारा और साहित्य, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984 ई.

3. अरगड़े, डॉ. रंजना, कवियों के कवि शमशेर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1988, 1998 ई.

4. अरगड़े, रंजना(स.), कुछ और गद्य रचनाएँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1992 ई.

5. अज्ञेय(सं.), तार सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, 2011 ई.

6. अज्ञेय(सं.), दूसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1970 ई.

7. कमल, अरुण(सं.), आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, जनवरी- मार्च

8. कमल, अरुण(सं.), आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सहस्राब्दी अंक

9. कॉडवेल, क्रिस्टोफर, विभ्रम और यथार्थ (अनु. भगवान् सिंह), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990 ई.

10. चोचा, डॉ. ए.एम., मनोविज्ञान के सिद्धांत, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014 ई.

11. चौहान, शिवदान सिंह, आलोचना के सिद्धांत, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2001 ई.

12. जोशी, ज्योतिष(सं.), कला विचार, आर. पी. एच. पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स, दिल्ली, 2013 ई.

13. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015 ई.

14. नवल, डॉ. नंदकिशोर, कविता की मुक्ति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1996 ई.

15. नवल, नंदकिशोर (स.), हिंदी साहित्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003 ई.

16. पाण्डेय, मैनेजर, शब्द और कर्म, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997 ई.

17. पोंती, मॉरीस मार्लो, फिनॉमिनालॉजी ऑफ़ परसेप्शन, रूत्लेज़ एंड केगन पॉल, न्यू यॉर्क, 1962 ई.

(पुनरुद्धरित) सिन्हा, रमण, शमशेर का संसार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013 ई.

18. बॉटमोर, टी. बी., समाजशास्त्र: समस्याओं और साहित्य का अध्ययन, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, 2004 ई.

19. बेतेइ, आन्द्रे, समाजशास्त्र : उपागम और विधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2014 ई.

20. मलयज(स.), शमशेर बहादुर सिंह की कुछ गद्य रचनाएँ, संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण, 1981 ई.

21. माथुर, एस.एस., समाज मनोविज्ञान, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़, 1976 ई.

22. मेकेंजी, जे. एस., समाज-दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009 ई.

23. मिश्र, अभय कुमार(स.), गुफ़्तगू-1, प्रवेशांक, श्री प्रकाशन दुर्ग, छत्तीसगढ़, 2011 ई.

24. मिश्र, शिवकुमार, मार्क्सवादी साहित्य चिंतन: इतिहास तथा सिद्धांत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010 ई.

25. मुक्तिबोध, गजानन माधव, एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दसवाँ संस्करण, 2011 ई.

26. लेनिन, ब्ला. इ., संकलित रचनाएँ, खंड-3, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981 ई.

27. शर्मा, बृजनारायण, भटनागर, हरि (सं.), रचना समय, भोपाल, 2010 मई-जून

28. शर्मा, रामविलास, आस्था और सौन्दर्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तीसरी आवृत्ति, 2015 ई.

29. शर्मा, रामविलास, पाश्चात्य दर्शन और सामजिक अन्तर्विरोध: थलेस से मार्क्स तक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 2001 ई.

30. सार्त्र, ज्यां पॉल, (अनु. जवरीमल्ल पारख), अस्तित्ववाद और मानववाद, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2002 ई.

31. सिंह, नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013 ई.

32. सिंह, नामवर, शमशेर बहादुर सिंह: प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, आठवाँ संस्करण, 2016 ई.

33. सिंह, नामवर,(सं. आशीष त्रिपाठी), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012 ई.

34. सिंह, नामवर (सं.), मलयज की डायरी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2000 ई.

35. सिंह, मुरलीमनोहर प्रसाद, चौहान चंचल (सं.), नया पथ, नयी दिल्ली, जुलाई- सितम्बर, 2011 ई.

36. सिन्हा, रमण, शमशेर का संसार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013 ई.

(ग) अंग्रेजी सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Eagleton, Terry, How to Read a Poem, Blackwell Publishing, Australia, 2007

2. Maurice Merleau-ponty, Phenomenology of Perception, Routledge, 2002

3. Maurice merleau-ponty, The world of perception, routledge, new York, 2004 edition

(घ) शब्दकोश

1. एडवड्र्स, ट्रॉन, द न्यू डिक्शनरी ऑफ़ थॉट्स, स्टैनबुक का., लन्दन, 1977 ई.

2. बाहरी, डॉ. हरदेव, हिंदी शब्दकोश, रवीन्द्र प्रेस, दिल्ली, 1994 ई.

3. मिश्र, बलभद्रप्रकाश, सत्यप्रकाश, मानक अंग्रेजी हिंदी कोश, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1983 ई.

4. वर्मा, रामचंद्र(सं.), मानक हिंदी कोश, पहला खण्ड, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग, 1966 ई.

(ङ) विश्वकोश

1. वसु, नगेन्द्रनाथ(सं.), द इनसाक्लोपीडिया इण्डिका, भाग- २, बी. आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली, 1917 ई.

(च) वेब-सन्दर्भ

1. https://samalochan.blogspot.com/2011/08/blog-post_09.html